

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180246

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. ^{H 84}
V 31 H

Accession No. G H 2 989

Author वसु, भगवति-चरण.

Title हिंदी-गद्य २१५१६ १९६१.

This book should be returned on or before the date
last marked below.

हिन्दी गद्य संग्रह

प्रधान सम्पादक
भगवतीचरण वर्मा



मैकमिलन एण्ड कम्पनी लिमिटेड

२९४, बहूबाजार स्ट्रीट, कलकत्ता १२

१९६१

मैकमिलन एण्ड कम्पनी लिमिटेड
लन्दन बम्बई कलकत्ता मद्रास मेलबोर्न
द मैकमिलन कम्पनी ऑफ़ कॅनाडा लिमिटेड
टोरांटो
सेंट मार्टिन्स प्रेस इन्क्०
न्यूयार्क

बर्न कन्वेंशन को स्वीकृत करनेवाले समस्त देशों में
इस पुस्तक के स्वत्वाधिकार स्वर्गित हैं ।

मूल्य: रु० २.२५ न. पै.

भारत में निर्मित ।
श्री इन्दुभूषण लाहिड़ी द्वारा होमिन आर्ट प्रेस ५२।९, त्रिपिन बिहारी गांगुली स्ट्रीट,
कलकत्ता में मुद्रित ।

प्रस्तावना

विद्यार्थियों के लिए गद्य साहित्य की परिचायिका अच्छे पाठ्यपुस्तक का निर्माण सहज कार्य नहीं है। पाश्चात्य भाषाओं में जैसे उच्च कोटि के त्रुटिरहित संकलन प्रकाशित होते हैं हिन्दी में भी वैसे ही और उनमें भी बढ़कर पाठ्य पुस्तकों का निर्माण किए बिना हमारा कल्याण नहीं। यह बात कल पर नहीं टांगी जा सकती। विद्यार्थियों के लिए उपयुक्त अच्छे गद्य संग्रह के प्रस्तुत करने में एक साथ ही साहित्यकार की परिष्कृत सहृदयता, आलोचक की विवेकबुद्धि, दृष्टिकोण की वैज्ञानिकता, साहित्य-भाण्डार से घनिष्ठ परिचय और सबसे बढ़कर अध्यापक के दृष्टिकोण की पहचान, आवश्यक होती है। मुद्रण की उत्तमता तो पहली शर्त है।

प्रस्तुत संग्रह के निर्माण के पीछे उपर्युक्त सभी आवश्यक साधन, न्यून-धिक मात्रा में उपस्थित रहे हैं। और हमारा यह विश्वास है कि जिनके लिए इस संकलन की रचना हुई है वे इस संग्रह में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति पाएँगे। और, हम यह आशा करते हैं कि सुधी अध्यापक बन्धु अपने शिष्यों के लिए पूर्ण उपादेयता के गुण इस संग्रह में पाएँगे।

संग्रहीत रचनाओं के स्वत्वाधिकारियों ने उद्धरण-अनुमति प्रदान करने का जो अनुग्रह किया है, एतदर्थ हम उनके आभारी हैं।

भगवतीचरण वर्मा

विषयानुक्रमण

स्वदेश-प्रेम, नागरिकता, मानव-प्रेम :

श्रीप्रकाश : नारंगी का लिलका ; जवाहरलाल नेहरू : 'भारतमाता की जय' ; वासुदेवशरण अग्रवाल : राष्ट्र का स्वरूप ; काका कालेलकर : गंगा-भैया ; संपूर्णानन्द : समाज और धर्म ; रामनाथ 'मुमन' : नागरिक ज्ञान और कर्तव्य ।

महापुरुषों के प्रेरक जीवन-चरित्र, गांधीवादी जीवन-दर्शन का प्रकाश, श्रम का महत्व :

विनोबा भावे : श्रमदेवता की उपासना ; मैथिलीशरण गुप्त : बृद्धदेव ; रतनलाल बंसल : अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी ; सीताराम चतुर्वेदी : मेरे मालवीयजी ; हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा गुरुदयाल मल्लिक : स्मृति-तर्पण ।

साहसिक घटनाएँ, यात्राएँ और वैज्ञानिक आश्चर्यकार :

विनोद बिहारीलाल : पंचाचूली शिखर पर ; स्व० ब्रजमोहन वर्मा : जीता जागता तिलिस्म ; श्रीराम शर्मा : बाध से भिड़न्त ।

कहानियाँ और एकांकी :

प्रेमचन्द : दो बैलों की कथा ; जयशंकर 'प्रसाद' : गूढ़ सई ; अन्न-पूर्णानन्द : अकबरी लोटा ; रामकुमार वर्मा : तैमूर की हार ।

संस्मरण :

महादेवी वर्मा : दो पर्वत-पुत्र ; भदन्त आनन्द कौसल्यायन : माँ का हृदय ।

साहित्यिक निबन्ध :

स्व० रामचन्द्र शुक्ल : तुलसी का भक्तिमार्ग ; स्व० महावीरप्रसाद द्विवेदी : सर विलियम जोन्स ने कैसे संस्कृत सीखी ; स्व० बालकृष्ण भट्ट : कल्पना-शक्ति ; हजारीप्रसाद द्विवेदी : वसन्त आ गया है ; स० ही० वात्स्यायन : महावीर प्रसाद द्विवेदी ।

अनुक्रमणिका

भूमिका	...	...	...	...	७
१. 'भारतमाता की जय'—जवाहरलाल नेहरू	...	...	...	...	२९
२. नारंगी का छिलका—श्रीप्रकाश	...	...	...	...	३२
३. सर विलियम जोन्स ने कैसे संस्कृत माँची—स्व० महावीरप्रसाद द्विवेदी	...	...	...	...	३६
४. बाघ में भिड़न्त—श्रीराम शर्मा	...	...	...	...	४२
५. अकबरी लोटा—अन्नपूर्णानन्द	...	...	...	...	४७
६. श्रमदेवता की उपासना—विनोबा भावे	...	...	...	...	५४
७. पंचाचूली गिखर पर—विनोदविहारीलाल भटनागर	...	...	...	...	६२
८. कल्पना-यधित—बालकृष्ण भट्ट	...	...	...	...	७१
९. दो वैलों की कथा—प्रेमचन्द	...	...	...	...	७४
१०. जीता जागता तिलिस्म—स्व० ब्रजमोहन वर्मा	...	...	...	...	८९
११. माँ का हृदय—भदन्त आनन्द कौमल्यासन	...	...	...	...	९७
१२. महावीरप्रसाद द्विवेदी—स० ही० वात्स्यायन	...	...	...	...	१०२
१३. तैमूर की हार—डाक्टर रामकुमार वर्मा	...	...	...	...	१०८
१४. वसन्त आ गया है—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी	...	...	...	...	१२७
१५. नागरिक ज्ञान और कर्तव्य—रामनाथ 'सुमन'	...	...	...	...	१३०
१६. गंगा मैया—काका कालेलकर	...	...	...	...	१३४
१७. समाज और धर्म—सम्पूर्णानन्द	...	...	...	...	१३९
१८. मेरे मालवीयजो—सीताराम चतुर्वेदी	...	...	...	...	१४४
१९. गूढ़ साँई—स्व० जयशंकर 'प्रसाद'	...	...	...	...	१५०
२०. तुलसी का भक्ति-मार्ग—स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	...	...	...	...	१५३
२१. दो पर्वत-पुत्र—श्रीमती महादेवी वर्मा	...	...	...	...	१५८
२२. अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी—रतनलाल बंसल	...	...	...	...	१७३
२३. राष्ट्र का स्वरूप—डाक्टर वामुदेवशरण अग्रवाल	...	...	...	...	१८०
२४. बुद्धदेव—मैथिलीशरण गुप्त	...	...	...	...	१८५
२५. स्मृति-तर्पण—हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा गुरुदयाल मल्लिक	...	...	...	...	१८९

भूमिका

हिन्दी गद्य साहित्य का विकास

हिन्दी के गद्य साहित्य की चर्चा का अर्थ खड़ी बोली के गद्य साहित्य की चर्चा है। उसका इतिहास पिछले लगभग सौ वर्षों का इतिहास है। इस अवधि में खड़ीबोली में आधुनिक विचारों का समावेश हुआ है। उस समय देश में एक बहुत बड़ा सांस्कृतिक जागरण हो रहा था। साहित्य का जागरण सांस्कृतिक जागरण का ही अंग है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इस नव जागरण का सूत्रपात हुआ।

खड़ीबोली के गद्य से पूर्व भी हिन्दी की प्राचीन साहित्यिक भाषाओं में गद्य वर्तमान था। किन्तु उस गद्य में न तो विशेष शक्ति थी और न प्रभाव ही। इस प्रकार प्राचीन राजस्थानी में आज से लगभग हजार वर्ष पूर्व के गद्य के नमूने मिलते हैं। ये नमूने राजाओं के दानपत्रों, पट्टों-परवानों और चारणों के आख्यान अथवा वार्ता आदि में सुरक्षित हैं। इस पुरातन गद्य में आधुनिकता को वहन करने की शक्ति न थी। ब्रजभाषा में हमारे देश की अनेक सर्वोत्तम कृतियाँ मिलती हैं किन्तु गद्य रचनाएँ कम और अशक्त हैं। चौदहवीं शताब्दी का कुछ अप्रामाणिक गोरखपन्थी साहित्य ब्रजभाषा में मिलता है। सोलहवीं शताब्दी में विट्ठलनाथ का श्रृंगार-रस-मण्डन इससे अधिक सुथरा ग्रंथ है। गोकुलनाथ की वैष्णव वार्ताएँ इससे भी अधिक प्रवाहशील गद्य में लिखी गईं। मैथिली में भी कुछ गद्य-साहित्य मिलता है। इस समूचे गद्य-साहित्य की भाषा कम या अधिक अनगढ़ है। उसमें आधुनिक युग की विचारधारा को वहन करने का सामर्थ्य नहीं है।

खड़ीबोली उत्तर भारत की अन्य उपभाषाओं के समान दिल्ली और मेरठ के आसपास प्रचलित एक प्रादेशिक भाषा है। उन्हीं की तरह वह भी

लगभग हजार वर्ष हुए अपभ्रंश की गोद में चल-बढ़कर निकली थी। उम ठेठ खड़ीबोली के आधार पर ही वर्तमान खड़ीबोली का विकास हुआ। इस ठेठ खड़ीबोली के नमूने मंतों की वानियों, मुसलमान औलिया लोगों की नसीहतों, खुसरो की रचनाओं आदि में बिखरे मिलते हैं। अकबर के सम-सामयिक किसी गंग कवि का ग्रंथ 'चंद-छंद बरनन की महिमा' खड़ीबोली का आदि-ग्रंथ माना जाता है। मुगल बादशाहों ने इसे अपने काम-काज के लिए अपना लिया था। मुगलों की अवनति के बाद नवाबों की राजधानियों में उसे आश्रय मिला। धीरे-धीरे उमका प्रसार बढ़ गया। जब अंग्रेज पश्चिम की तरफ बढ़े तो उन्होंने उम जनता की भाषा के रूप में अपना लिया। खड़ीबोली के पास साहित्य की विशेष विरासत नहीं थी, किन्तु उसने नये युग की आवश्यकताओं की पूर्ति करने का बीड़ा उठाया।

अठारहवीं शताब्दी में रामप्रसाद निरंजनी ने अपना 'भाषा योग-वाशिष्ठ' और पण्डित दौलतराम ने 'जैन पद्म पुराण' का भाषा-अनुवाद प्रस्तुत किया। इन ग्रंथों से प्रकट होता है कि खड़ीबोली के गद्य में काफी रचनाएँ होने लगी थीं। जब अंग्रेजों ने फोर्ट विलियम कॉलेज कलकत्ता में हिन्दी को अपनाया, तो उससे पहले ही खड़ीबोली के वर्तमान गद्य-रूप की नींव पड़ चुकी थी। अंग्रेजों ने खड़ीबोली के विकास में सहायता पहुँचाई, परन्तु उन्होंने ही अचानक खड़ीबोली को खोज निकाला हो, ऐसी बात नहीं। खड़ीबोली के इस रूप का सहज भुकाव संस्कृत से प्राप्त होनेवाली शब्द-सामग्री की ओर था, इसलिए यह रूप हमारे देश की पुरानी साहित्य-साधना के अनुकूल ही था। उसका एक दूसरा रूप अरबी-फ़ारसी के शब्दों को भी अपनाता था। धीरे-धीरे उसने भारतीय संस्कृति की ओर से मुँह मोड़कर फारस और ईरान की संस्कृति का दामन पकाड़ा। इस देश की मिट्टी, हवा, पानी और फूल-पत्ती से नाता तोड़कर सुदूर विदेश से लगाव स्थापित किया। खड़ीबोली की इस दूसरी शैली का नाम उर्दू है।

घोरे-भीरे अठारहवीं शताब्दी में खड़ीबोली का गद्य और भी विकसित हो ग्रहण करने लगा। मुंशी सदासुखलाल 'नियोज' के 'सुखसागर' की भाषा में इस विकास की छाप है। खड़ीबोली का यह कुछ खड़ीबोली गद्य मुथुरा और निखरा रूप है। यह भाषा शिष्ट जनता का विकास के व्यवहार की भाषा थी। आगे चलकर इयाअल्ला खाँ ने 'गनी केतकी की कहानी' लिखी। अग्रासवी शताब्दी के प्रारम्भ की इस रचना में एक अपने ढंग का आकर्षण है। न तो इसमें संस्कृत या ब्रजभाषा का प्रभाव है और न अरबी-फ़ारसी का। फिर भी कहानी का प्रवाह विदेशी वातावरण लिए हुए है। यह गद्य प्रयत्न करके लिखा हुआ मरस गद्य है जिसमें गम्भीरता के स्थान पर एक प्रकार की चंचलता और हलका-फुलका भाव मिलता है। वास्तव में इशा बड़ी रँगिली-रसीली तवीयत के आदमी थे। वैसी ही उनकी भाषा। यह भाषा भावी गद्य का आधार बनने में असमर्थ थी, इसीलिए मुंशी सदासुखलाल की भाषा का अधिक महत्त्व समझा जायगा।

उक्त दोनों रचनाएँ फोर्ट विलियम कॉलेज में बाहर हुई थी। कॉलेज के संरक्षण में लल्लूलाल जी ने अपना 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा। 'प्रेमसागर' की भाषा शिथिल, पण्डिताऊन से बोझिल, कृत्रिम भाषा है। सदल मिश्र की भाषा में अधिक स्थिरता और प्राकृतता है, यद्यपि उसपर पूर्वीपन की छाप है। आगे चलकर विकसित होने-वाले गद्य का आधार मुंशी सदासुखलाल और सदल मिश्र की गद्य-शैली हो बनी।

अब भाषा के संस्कार का प्रयोजन उत्पन्न हो गया था। कलकत्ता तथा आगरा की सोसाइटियों तथा ईसाई मिशनरियों ने इस कार्य में सहायता पहुँचाई। सन् १८२६ में हिन्दी का पहला साप्ताहिक 'उदन्त-मार्तण्ड' प्रकाशित हुआ। क्रमशः और भी पत्र निकलने लगे जिनके सहारे हिन्दी गद्य का रूप निखरने लगा। छापेखानों ने साहित्य को घर-घर तक पहुँचाने में सहायता की। हिन्दी अब नये युग की नई हवा को लेकर आधुनिक युग की ओर बढ़ने लगी।

किन्तु इसी समय उसकी प्रगति को एक बड़ा भारी धक्का लगा। लॉर्ड मैकाले की प्रेरणा से कम्पनी सरकार ने सन् १८३५ में अंग्रेजी भाषा का जोरदार प्रचार करने की घोषणा की। पढ़े-लिखे लोगों के हृदय पर अंग्रेजी का आतंक जमने लगा जो आज भी पूर्णतया दूर नहीं किया जा सका है। वास्तव में अंग्रेजों को हमारे देश के साहित्य के प्रति न कोई आकर्षण था न रुचि। इसीलिए शिक्षा में देश की मातृभाषाओं को कोई गौरवपूर्ण स्थान नहीं मिला। कचहरी-अदालत में पहले अरबी-फ़ारसी का ही बोलबाला था और आगे चलकर सरकार ने उर्दू को अपना लिया।

सरकार की इस नीति के विरोध में पढ़ी-लिखी जनता के हृदय में विरक्ति उपजने लगी। ईसाई धर्म-प्रचारकों के कार्यों की प्रतिक्रिया में बंगाल में ब्राह्मसमाज तथा उत्तर में आर्यसमाज की स्थापना हुई। अंग्रेजी साम्राज्य का प्रसार सारे देश में बढ़ता जा रहा था। उसी के साथ जनता के चित्त में क्षोभ के बीज भी अंकुरित होते जा रहे थे। सन् १८५७ में जनता का यह क्षोभ एक प्रचण्ड विस्फोट के रूप में प्रकट हुआ। यद्यपि यह क्रान्ति बाहरी दृष्टि से विशेष सफल नहीं हुई, तथापि उसने शताब्दियों की नींद के बाद जागी हुई देश की राष्ट्रीय-चेतना का तेजस्वी परिचय दिया। यह संघर्ष न केवल राजनीतिक अथवा सामाजिक शक्तियों के साथ हुआ था, बल्कि वह भारत में नये युग के आगमन की पहली सूचना थी। नये युग की भावना ने साहित्य में भी नयी दिशा की ओर बढ़ने की व्याकुलता जगा दी। जनता ने पुरानी रूढ़ियों और संस्कारों से मुक्त होकर अपने आपको देखने-सुनने, समझने-बूझने का अवसर पाया। पश्चिम से ज्ञान-विज्ञान तथा औद्योगिक क्रान्ति का संदेश देश में आ चुका था। स्वाधीन अंग्रेज जाति ने बिना चाहे और बिना जाने भारत के हृदय में स्वाधीनता की लौ जगा दी।

एक ओर भारतीय जनता का चित्त नये युग के स्वागत की बाट जोह रहा था, दूसरी ओर विदेशी शासक देश की संस्कृति और साहित्य की अवहेलना करते जा रहे थे। शिक्षा के क्षेत्र में अंग्रेजी और शासन के क्षेत्र

में उर्दू ने देश की भाषाओं तथा लिपियों की जगह दखल कर ली थी। पढ़े-लिखे लोग हिन्दी पढ़ने, लिखने, बोलने में, और अंग्रेजी में, ऐसा न कर पाने पर, नज्जित हुआ करते थे। यदि ऐसी अवस्था के भीतर भी हिन्दी भाषा और साहित्य पनपते रहे, तो निश्चय ही उनके भीतर कोई बड़ी भारी शक्ति थी। वास्तव में हिन्दी ने सदैव उस समय की सरकार, पढ़ी-लिखी जनता और अशिक्षित समाज, तीनों का इसी भीतरी शक्ति से सामना किया।

ऐसे ही समय राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' शिक्षा के क्षेत्र में आए। उन्हें हिन्दी भाषा और नागरी लिपि से प्रेम था, मगर सरकारी नौकर होने के कारण वे सरकार की नीति का खुलकर विरोध न कर सके। धीरे-धीरे वे नागरी लिपि में ठेठ उर्दू ही लिखने लगे। राजा लक्ष्मणसिंह ने उनका विरोध किया। राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा पर ब्रजभाषा का प्रभाव था, किन्तु वह देश की साहित्यिक परम्परा के अनुरूप थी। साहित्य क्षेत्र के बाहर समाज और धर्म के क्षेत्रों में भी नई जागृति की लहर देखने में आ रही थी। आर्यसमाज का सारा प्रचार हिन्दी के माध्यम से ही हो रहा था। पंजाब में बाबू नवीनचन्द्र राय, पण्डित श्रद्धाराम फुल्लौरी आदि ने हिन्दू संस्कृति को फिर से प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न कर रहे थे। उनके प्रयत्नों का माध्यम भी हिन्दी भाषा ही थी।

इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम भाग में समस्त उत्तर भारत में राष्ट्रीय चेतना की स्फूर्ति दौड़ गई। हिन्दी साहित्य के विकास की कहानी को इसी राष्ट्रीय जागरण का अंग समझना चाहिए। ऐसे ही समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का उदय हुआ। अपनी तेतीस वर्ष की अल्प आयु में ही भारतेन्दु ने हिन्दी साहित्य में युगान्तर ला दिया। राष्ट्रीय चेतना को भारतेन्दु की प्रतिभा का योग मिला। उन्होंने भाषा को एक सहज प्रवाह और स्वच्छ रूप प्रदान किया। हिन्दी गद्य में नये युग के विचारों को प्रकट करने की शक्ति आई। साहित्य का क्षेत्र भी व्यापक बना जिसमें गद्य और पद्य के नये-नये रूप विकसित होने लगे। शिक्षित जनता के बढ़े हुए विचारों

और पिछड़े हुए आचारों के बीच की खाई को भारतेन्दु ने पाटने का प्रयत्न किया। नवीन जागरण की जो शक्ति उन्मुक्त हुई थी, उसे भारतेन्दु का सबल नेतृत्व प्राप्त हो गया। उनके व्यक्तित्व की छाप उनके साहित्य में अमिट रूप से मिलती है। देखते-देखते भारतेन्दु को घेर कर नवीन लेखकों का एक जीता-जागता मण्डल तैयार हो गया। सभी मातृभाषा के उपासक थे, सभी में देश की ममता थी और था जीवन के प्रति आनन्दपूर्ण उत्साह। हिन्दी की सेवा का कार्य एक जन-आन्दोलन के रूप में परिणत हो गया।

मण्डल के लेखकों की शैली में बड़ी सजीवता और विविधता भारतेन्दु-मण्डल धना है। प्रतापनारायण मिश्र की भाषा में बोलचाल का अनठापन, बालकृष्ण भट्ट में स्पष्टवादिता की तीव्रता, ठाकुर जगमोहन सिंह में कविमुलभ कोमलता और 'प्रेमघन' में एक अपना माधुर्य है। लाला श्रीनिवासदास ने उपन्यास-नाटक का क्षेत्र अपनाया। इस प्रकार भारतेन्दु-मण्डल की सेवाओं से हिन्दी-साहित्य थोड़े समय में ही उल्लेखनीय उन्नति कर सका। सबसे अधिक प्रगति नाटक के क्षेत्र में हुई और फिर उपन्यास के क्षेत्र में। निबन्ध और आलोचना के क्षेत्र भी मूने न रहे। कहानी कला का जगत् अवश्य हो रीता-सा रहा। पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन कुछ और आगे बढ़ा। काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने हिन्दी-साहित्य की सेवा का उल्लेखनीय कार्य प्रारम्भ किया। उन्नीसवीं शताब्दी की समाप्ति तक हिन्दी-साहित्य ने विषयों की विविधता, भाषा को सफाई तथा नवीन साहित्यिक रूपों के विकास की दृष्टि से आश्चर्यजनक उन्नति कर ली।

नवीन जागरण ने जिम बहुमुखी शक्ति को जन्म दिया था उसे मार्ग दिखानेवाली प्रणिभा भारतेन्दु के साथ ही अस्त हो गई। देश में इस समय अनेक प्रकार की हलचलें हो रही थीं जिन्होंने वातावरण बीसवीं शताब्दी को अस्त-व्यस्त कर दिया। भाषा-संस्कार का कार्य अधूरा पड़ा था। शब्द-भाण्डार के स्वरूप को लेकर तर्क-वितर्क हो रहे थे। हिन्दी-संसार अव्यवस्थित-सा हो गया था। ऐसी परिस्थिति के भीतर से साहित्य को आगे बढ़ना था। उसे फिर एक

ऐसे नायक की आवश्यकता थी जिसमें सेनानायक की कठोरता भी हो । हिन्दी साहित्य को महावीरप्रसाद द्विवेदी के रूप में ऐसा ही सजग नेता मिल गया । द्विवेदी जी ने भाषा को माँज-धिसकर उसमें नयी उज्ज्वलता ला दी । विचारों में विविधता और भावों में स्थिरता का समावेश किया । निबंध को उन्होंने सच्चे अर्थों में निबंध बनाया । नाट्य-कला का परिचय दिया, कथा-साहित्य के क्षेत्र में रुचि का सस्कार किया, समालोचना की प्रणाली में गहराई का संचार किया और नये-नये लेखकों का निर्माण किया । वे एक समर्थ सम्पादक, समीक्षक, लेखक और अनुवादक थे । सरस्वती पत्रिका उनकी साहित्य-साधना का वाहन बनी । हिन्दी के अनिश्चय और सकट के समय में उन्होंने उसे सही रास्ता दिखाया ।

द्विवेदी जी की प्रेरणा में साहित्य के सभी अंग क्रमशः समृद्ध हुए । उन्हीं के समय में खड़ीबोली ने काव्य-भाषा बनने का सुयोग पाया । निबंध और आलोचना के क्षेत्र में बालमुकुन्द गुप्त, अध्यापक पूर्णसिंह, पद्मसिंह शर्मा, प० रामचन्द्र शुक्ल आदि लेखक आगे आए । नाटकों का क्षेत्र अवश्य ही रीता-सा रहा । एकमात्र जयशङ्कर 'प्रसाद' ही उस युग के प्रतिभाशाली नाटक-कार हैं । आगे चलकर एकांकी और समस्या-नाटकों की रचना भी बहु-नायक से हुई ।

बीसवीं सदी का सबसे अधिक लोकप्रिय साहित्य कथा-साहित्य है । पहलू के उपन्यासों में अस्वाभाविकता का अधिक समावेश था । फिर बंगला उपन्यासों के अनुवादों की दाढ़-सी आई । पश्चिमी साहित्य का प्रभाव हिन्दी में बंगला के अनुवादों की माफत ही आया । धीरे-धीरे उपन्यासों में सामाजिक तत्त्व और यथार्थवाद का प्रवेश हुआ । कहानियाँ पूर्णतया बीसवीं सदी की उपज हैं । कथा-साहित्य में सबसे स्मरणीय नाम स्वर्गीय प्रेमचन्द का है । उन्होंने इस क्षेत्र में युगान्तर ही ला दिया । परवर्ती लेखकों में वृन्दावनलाल वर्मा, जैनेन्द्र, यशपाल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं ।

आज के हिन्दी गद्य साहित्य में सभी ओर प्रगति के लक्षण दीख पड़ रहे हैं । साहित्य के विभिन्न अंगों में नये-नये प्रयोग किये जा रहे हैं । परिचित

साहित्यांग में तो उन्नति हुई ही है कुछ कम परिचित साहित्यांग भी धीरे-धीरे पुष्ट हो रहे हैं। सस्मरणात्मक गद्य में महादेवी वर्मा ने बड़ी आकर्षक प्रतिभा का परिचय दिया है। आत्मकथा के क्षेत्र में राहुल सांकृत्यायन और डॉ० राजेन्द्रप्रसाद के नाम उल्लेखनीय हैं। साहित्य के उपयोगी और व्यावहारिक अंग भी क्रमशः समृद्ध हो रहे हैं। इतिहास और पुरातत्त्व के क्षेत्र में वासुदेवशरण अग्रवाल, श्रीतीचन्द्र, राहुल सांकृत्यायन आदि का कार्य स्मरणीय है। विश्वविद्यालयों में खोज का कार्य आगे बढ़ रहा है। निबंध की शैली बहुत आकर्षक हो गई है। इस प्रसंग में हजारीप्रसाद द्विवेदी, आनंद कौसल्यायन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। अब भी हिन्दी के वर्तमान गौरव और दायित्व को देखते हुए जो कुछ हुआ या हो रहा है, वह बहुत थोड़ा ही है। ज्ञान-विज्ञान का भाण्डार अब तक अधूरा है। बच्चों का साहित्य नाममात्र को मिलता है और वह भी एकांगी। भारत का प्राचीन साहित्य भी थोड़ा ही हिन्दी में सुलभ है। राष्ट्रभाषा के नाते हिन्दी को आगे-पीछे संसार की समस्त ज्ञान-राशि को देशवासियों के लिए सुलभ बनाना ही होगा। यह एक विशाल कार्य है जो दृढ़ संकल्प, निष्ठा और धैर्य के द्वारा ही हो सकता है।

हिन्दी देश की राष्ट्रभाषा है, यह बहुत बड़े गौरव का विषय है। किन्तु साथ ही हिन्दी भारत के एक विशाल जन-समूह की मातृभाषा भी है। हिन्दी से उसका यह मातृत्व-पद न तो कभी छीना जा सकता है, न उसका यह गौरव म्लान ही हो सकता है। अन्त तक हिन्दी की समृद्धि और उन्नति का यथार्थ दायित्व उसकी कृती संतानों पर पड़ेगा। आशा है हम इसके योग्य बन सकेंगे।

गद्य साहित्य के विविध रूप

साहित्य का संसार बहुत विशाल है। कोई साहित्य प्रधान रूप में हमें नाना विषयों की जानकारी देता है, ज्ञान की प्यास बुझाता है, तो कोई चित्त का अनुरंजन करता और हमें आनन्द दान करता है। पहली श्रेणी के साहित्य को उपयोगी या व्यावहारिक साहित्य कहते हैं; दूसरी श्रेणी का साहित्य शुद्ध साहित्य या ललित साहित्य कहलाता है।

भाषा के दृष्टिकोण से भी साहित्य के दो मोटे-मोटे भेद हैं : पद्य साहित्य और गद्य साहित्य। जब भाषा में एक प्रकार की गेयता रहती है, तब उसे पद्य कहा जाता है और जब भाषा का रूप केवल पाठ्य ही होता है, गेय नहीं, तब उसे गद्य कहकर पुकारते हैं। गद्य की शब्दावली में भी ध्वनि का कुछ चमत्कार तो होता ही है किन्तु इस चमत्कार का आधार शब्दों की गेयता नहीं होती।

गद्य-रचना साहित्य के कई रूपों के भीतर सम्भव है। उन रूपों की पहचान अलग-अलग प्रकार की होती है। प्रत्येक का अपना-अपना धर्म या कर्त्तव्य होता है। कहानी का धर्म नाटक के धर्म से अलग प्रकार का होगा। साहित्यकार को उनके धर्म की परख और पहचान होती है। जब हम प्रेमचन्द की किसी कहानी की आलोचना करने लगेंगे तो उनकी शैली तथा स्वरूप को समझने के लिए और उनकी कला का ठीक-ठीक मूल्य आँकने के समय हम यह भी जाँचना चाहेंगे कि प्रेमचन्द को कहानी के धर्म की कहाँ तक पकड़ है। यही बात साहित्य के दूसरे अंगों के विषय में भी लागू है।

यह शैली क्या है ? साधारण व्यवहार में हम 'रंग-ढंग' शब्द का बहुधा प्रयोग करते हैं। अमुक व्यक्ति के लिखने-पढ़ने का रंग-ढंग ऐसा है—ऐसा नहीं—इस कथन के द्वारा हम मोटे तौर पर उसकी शैली की बात ही करते हैं। असल में किसी लेखक की शैली का अर्थ उसकी वे सभी विशेषताएँ हैं, जिनके कारण वह लेखक दूसरे लेखक से अलग जान पड़ता है। अर्थात् शैली साहित्यकार के निरालेपन को प्रकट करती है। साहित्य के व्याख्याता तो यहाँ तक कहते हैं कि शैली ही साहित्यकार है। वास्तव

में अपनी विशेष शैली के द्वारा ही साहित्यकार अपनी विलक्षणता को बड़े प्रभावशाली रूप में व्यक्त करता है। जैसे दो व्यक्ति त्रिलकुल एक से नहीं हाने, वैसे ही दो शैलियाँ भी एक-सो नहीं होती।

यदि शैली का साहित्यकार के व्यक्तित्व के साथ इतना गहरा लगाव है, तो शैली के दर्शन भी हमें उसी प्रकार के साहित्य में मिलेंगे जिसमें व्यक्तित्व को प्रकट करने का अवकाश मिलता है। उपयोगी साहित्य में विषय का प्रयोजन रूप ही महत्वपूर्ण होता है; व्यक्तित्व का रंग शुद्ध साहित्य में ही ठीक-ठीक उभर पाता है। अतएव शैली का सच्चा परिचय शुद्ध साहित्य की रचनाओं में ही मिलता है। साहित्यकार में साहित्यांग विशेष के तत्त्वों की परख और पकड़ होनी चाहिए, यह हम पहले ही कह आए हैं। किन्तु साहित्य इतने से ही उत्तम कोटि का नहीं हो जाता। शैली ही उन तत्त्वों के भीतर वास्तव में प्राणों का संचार करती है। विधिपूर्वक बनाई हुई रसोई में यदि नमक का अभाव हो तो सब कुछ फीका हो जाता है। इसी प्रकार साहित्य-रचना में भी शैली का अभाव होने से वह फीकी और निस्तेज हो जाती है।

(शुद्ध साहित्य की कांठ में गद्य के जो विविध रूप आते हैं, उनमें नाटक उपन्यास, कहानी, निबन्ध और समालोचना मुख्य हैं। इनमें नाटक की स्थिति शेष सबसे कुछ अलग-सी है। अतएव पहले उसी पर नाटक विचार करे। नाटक केवल पुस्तकों में ही लिखा हुआ नहीं रहता, वह रंगमंच पर खेला जाता है। उसकी रचना ही रंगमंच के लिए होती है। हम नाटक के अभिनय को देखकर ही उसका पूरा आनन्द लेते हैं, इसीलिए नाटक को दृश्य-काव्य कहा गया है। नाटक के इस अभिनय—इस क्रिया रूप—में ही उसकी सार्थकता है। नाटक की क्रिया किसी कथा को हमारी दृष्टि के सम्मुख मंच पर उतारती है, अतएव 'कथा-वस्तु' नाटक का प्रथम तत्त्व है। नाटककार जानता है कि उसकी कहानी का कितना हिस्सा मंच पर उतारा जाय, जिससे दर्शकों पर अधिक से अधिक प्रभाव पड़े। कहानी के बाकी हिस्से की वह पात्रों के वार्तालाप द्वारा हमें केवल सूचना दे देता है।

यह कहानी किनकी होती है ? प्रकट है कि वह हम मनुष्यों के जीवन की ही कथा होती है । नाटक की भाषा में इन मनुष्यों को 'पात्र' कहते हैं । ये पात्र जीवन के उतार-चढ़ाव के भीतर से गुजरते हुए अपने सुख-दुःख की रामकहानी सुनाते हैं, जिसके भीतर दर्शक अपने जीवन के सुख-दुःख की झलक देख पाता है । जीवन का यह उतार-चढ़ाव, घटनाओं का यह क्रम कुछ ऐसा होना चाहिए जो कि स्वाभाविक रूप से पात्रों के 'शील' या 'चरित्र' के भीतर से निकले । घटनाओं तथा चरित्रों की आपसी टक्कर से कहानी भी खुलती जाती है और पात्रों के शील के रहस्य भी प्रकट होते जाते हैं । नाटककार इन पात्रों को रंगमंच पर पेश करके खुद दर्शकों की आँखों से ओझल हो जाता है । नाटक की गति में स्वाभाविकता का होना अत्यन्त आवश्यक है । पात्रों के 'वार्तालाप' से उनके चरित्र पर प्रकाश पड़ता है । कथा धीरे-धीरे अपने संघर्ष की अंतिम सीमा तक पहुँचती है और फिर उस संघर्ष या समस्या का समाधान हो जाता है । नाटक के अनेक प्रकार हैं और वर्तमान काल में कुछ नये प्रकार के नाटक भी सामने आये हैं । ऊपर बताए हुए तत्त्व उन सभी में किसी न किसी रूप तथा मात्रा में मौजूद रहते ही हैं । क्रिया और अभिनय में नाटक के प्राण छिपे होते हैं । आज एकांकी नाटक बहुत लोकप्रिय हो रहा है । इसकी प्रधान विशेषता इसका संक्षिप्त रूप, स्थान-काल-पात्र की एकता और कथावस्तु का कसाव है । अन्य तत्त्व नाटक के समान ही होते हैं । पूर्ण नाटक और एकांकी में वही अन्तर है जो उपन्यास तथा कहानी में ।

गद्य साहित्य का कथा रूप आज सबसे अधिक जनप्रिय हो उठा है । उपन्यास और कहानी दोनों ही कथा साहित्य के अन्तर्गत हैं । उनको किसी रंगमंच की आवश्यकता नहीं होती; उनका रंगमंच उनके उपन्यास भीतर ही मौजूद रहता है । उपन्यास में भी कथावस्तु, पात्र, घटनाओं तथा पात्रों की आपसी टक्कर होती है । पात्रों में बातचीत का होना भी स्वाभाविक है । कथा किसी देश और काल की ही होती है; अतएव कथाकार देश-काल का वातावरण भी

उपन्यास में उपस्थित करता है। फिर भी उपन्यास और नाटक में एक बड़ा भारी अंतर है। नाटक दृश्य-काव्य है, उपन्यास श्रव्य-काव्य। नाटक में नाटककार को स्वयं ओट में रहना पड़ता है। उपन्यास का लेखक अपने पाठकों के साथ-साथ चलता है और कहानी सुनाने के अतिरिक्त उस कहानी की व्याख्या भी करता जाता है। उपन्यास तथा नाटक दोनों में सभी चीजें उचित रूप तथा सही भाषा में होनी चाहिए। दोनों में असर पैदा करने की ताकत भी चाहिए जिसके बिना रचना फीकी हो जाती है।

कथा-साहित्य का ही अंग होने के कारण कहानी भी कुछ हद तक उपन्यास से मिलती-जुलती रचना है। उपन्यास जीवन के अनेक पहलुओं का परिचय दे सकता है मगर कहानी उनमें से किसी एकाध पहलू कहानी को ही उपस्थित करती है। कभी-कभी वह चरित्र की एक विशेषता, परिस्थिति के एक प्रभाव या एक उद्देश्य की एक झलक दिखाने के लिए ही लिखी जाती है। इस बात को यों भी कह सकते हैं कि कहानी में एक प्रकार का इकहरापन रहता है। कहानीकार अपने विशेष उद्देश्य को सामन रखकर ही अपने अमित भाण्डार से सामग्री-विशेष का चयन करता है। कहानी का सबसे बड़ा गुण है उसका प्रभाव। इस प्रभाव की दृष्टि से कहानी अन्य सभी साहित्यांगों को पीछे छोड़ जाती है।

निबन्ध तथा समालोचना एक दूसरे के कुछ निकट पड़ते हैं, साथ ही उन अन्य साहित्य-रूपों से दूर भी पड़ जाते हैं जिनकी चर्चा ऊपर की गयी है। इन दोनों में बुद्धि का समावेश हृदय की अपेक्षा निबन्ध कुछ अधिक होता है। निबन्ध का साधारण अर्थ विचारों को बंदिश अथवा गुम्फन से होता है। प्राचीन काल में गद्य और पद्य दोनों में विचारों को गुंथकर निबन्ध की रचना होती थी। उनमें प्रधान रूप से बुद्धि-तत्त्व की ही क्रीड़ा दीख पड़ती थी। किन्तु आज का निबन्ध लेखक अपनी शैली, अर्थात् अपने व्यक्तित्व की छाप, लेकर ही सामने

आता है। व्यक्ति की रुचि या अरुचि का उसपर रंग होता है। संसार में सबकी रुचि अलग-अलग होती है, इसलिए निबन्ध के स्वरूप भी अलग-अलग होते हैं। व्यक्तिगत निबन्धों में लेखक की ईमानदारी, भावों की सचाई और विचारों का सुलभापन विशेष गुण माने जाते हैं। निबन्ध की दूसरी विशेषता यह है कि लेखक पाठक के साथ सीधा परिचय स्थापित करता है, उससे बिना किसी ओट के अपने जी की बातें कहता-सुनता है।

शैली के भेद से निबन्ध के भी अनेक भेद हो सकते हैं। कुछ में लेखक पाठक के साथ बातचीत-सी करता होता है; 'कल्पना-शक्ति' ऐसा ही वार्तालाप-मूलक निबन्ध है। कुछ में लेखक वक्तृता-सी देता है जिसे पाठक श्रोता बनकर सुनता है; जैसे 'श्रम-देवता की उपासना'। कुछ में स्वच्छन्द भाव से गप लड़ाने का वातावरण होता है; जैसे 'वसन्त आ गया है'। कुछ में मानो लेखक अपने ही से बोलता या अपने विचारों को गुनत होता है; जैसे 'राष्ट्र का स्वरूप' या 'समाज और धर्म'। संस्मरणों में लेखक की स्मृतियाँ उसके व्यक्तित्व से छनकर बाहर आती हैं; जैसे 'दो पर्वत पुत्र'। कुछ में स्मृतियाँ भावों के साथ लेखक और पाठक को बहा ले जाती हैं; जैसे 'स्मृति-तर्पण'। इन कोटियों से मिलते-जुलते निबन्ध के अन्य प्रकार भी होते हैं। (निबन्ध में मन को रमाने का कौशल अवश्य होना चाहिए, नहीं तो उसे शुद्ध साहित्य के भीतर गिना नहीं जा सकता।)

साहित्य के विषय में जब हम कोई विचार करते हैं तो एक प्रकार की समालोचना ही करते हैं। 'यह पुस्तक भली लगी' या 'भली नहीं लगी'

—एसे वाक्य में एक प्रकार से पुस्तक की आलोचना समालोचना ही की गई होती है। दूसरे शब्दों में समालोचना के अन्तर्गत साहित्य की किसी कृति की छान-बीन की जाती है, या व्याख्या की जाती है अथवा उसके भले-बुरे का निर्णय किया जाता है।

क्या सभी समालोचक साहित्य की किसी कृति के विषय में एक-मत हो सकते हैं ? क्या मेरे पास जो रुपया है और जो आपके पास है, वे दोनों सोलह आने के बराबर नहीं हैं ? जिस तरह रुपयों का एक टकसाली मूल्य है वैसे ही साहित्य का भी कोई टकसाली मानदण्ड होना चाहिए । समालोचक की शुद्ध बुद्धि ऐसा ही मानदण्ड बन सकती है । पूर्ण सत्य सब को पकड़ में नहीं भी आ सकता; फिर भी सबके प्राप्त किये हुए सत्य के खंडों को जोड़ने से पूर्ण सत्य का बहुत-कुछ रूप समझ में आ सकता है । साहित्य का उद्देश्य सत्य की एकता को प्राप्त करना है और समालोचक का उद्देश्य साहित्यकार की चेष्टा को परखना । इस प्रकार दोनों के कार्य एक-दूसरे के पूरक हैं ।

संग्रहीत रचनाएँ और उनके रचयिता

प्रस्तुत संकलन में जिन रचनाओं को एकत्र किया गया है वे न केवल साहित्यिक दृष्टि से सरस और महत्वपूर्ण हैं, वरन् साहित्य-भाण्डार के द्वार पर खड़े विद्यार्थी के हृदय में परिष्कृत गद्य के प्रति आकर्षण और रुचि उत्पन्न करने में समर्थ हैं, ऐसा हमारा विश्वास है।

अधिकांश रचनाओं में उत्तम साहित्य का वह आदर्श गुण न्यूनाधिक मात्रा में उपस्थित है, जो मनुष्य को देवत्व की ओर अभिमुख होने की प्रेरणा देता है।

संग्रहीत पाठों पर एक विहंगम दृष्टि डालते ही हमारे उक्त कथन का आशय स्पष्ट हो जाता है।

भारतमाता की जय में पं० जवाहरलाल नेहरू ने, अपनी रातृभूमि के प्रति हमारी अमूर्त भावनाओं को एक मूर्त रूप दिया है। भारतमाता की हमारी कल्पना कैसी हो, यह उक्त रचना में प्रभावशाली ढंग से बताया गया है। पंडितजी की भाषा बोलचाल की भाषा के अत्यंत निकट रहती है। हृदय की सच्चाई, ईमानदारी, और लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित चिंतन, उनकी रचनाओं की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

छोटी-छोटी घटनाओं में भी कैसे महत्वपूर्ण संकेत निहित होते हैं, इसका एक बहुत अच्छा उदाहरण श्री श्रीप्रकाशजी का नारंगी का छिलका है। बात कहने का सीधा, सरल किंतु मार्मिक ढंग, हृदय पर एक छाप छोड़ जाता है। श्रीप्रकाशजी के सार्वजनिक जीवन का आरंभ एक कुशल लेखक और पत्रकार के रूप में हुआ था। सुगठित और स्पष्ट भाषा पर उनका अधिकार है।

आधुनिक हिन्दी गद्य की आरंभिक अवस्था में उसका परिष्कार करने और साज-सँवार कर उसे परिमार्जित रूप देने का काम पुण्यश्लोक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने किया था। “सरस्वती” के सम्पादक के रूप

में उन्होंने हिन्दी की अविस्मरणीय सेवा की। उनकी रचनाओं में सरस भाषा, बोधगम्य शैली, चुटीली उक्तियों और ज्ञानवर्द्धक उद्धरणों का बड़ा अच्छा संयोग रहता है। उनकी संकलित रचना “सर विलियम जोन्स ने कैसे संस्कृत सीखी” द्विवेदीजी की रचना-शैली का प्रतिनिधित्व ही नहीं करती बल्कि अध्यवसाय और ज्ञान-साधना का एक प्रभावकारी संदेश भी देती है।

हिन्दी के वयोवृद्ध लेखक और पत्रकार पं० श्रीराम शर्मा हिंस्र पशुओं के शिकार का वर्णन बड़ी सजीव और रोचक शैली में करते हैं। इस विषय में उनका व्यापक अनुभव उनके वर्णनों को मनोहारी बना देता है। बाघ से भिड़ंत की रोमांचकारी घटना में शिकार-विषयक उनकी रचनाओं की विशेषताओं का पूरा परिचय मिलता है।

श्री अन्नपूर्णानन्द हिन्दी के हास्य लेखकों में अद्वितीय स्थान रखते हैं। अत्यधिक अतिरंजना, हास्य को सस्ता व बाजारू बना देती है। अन्नपूर्णानन्दजी की रचनाओं में यह दोष नहीं है। उनकी कल्पना का आधार दिन-प्रतिदिन घटनेवाली साधारण और असाधारण घटनाएँ होती हैं। उनके पात्र पाठक की स्मृति में अपनी याद छोड़ जाते हैं। चुटीले व्यंग उनकी लेखनी से बड़े मजे से उतरते हैं। अकबरी लोटा उनकी सुपरिचित रचना है और निर्मल हास्य का एक अच्छा उदाहरण है।

आचार्य विनोबा भावे, उच्चकोटि के संत, विचारक, विद्वान्, बहुभाषाविद् और युग-प्रवर्तक जननायक ही नहीं हैं बल्कि अत्यंत सिद्धहस्त लेखक भी हैं। उनकी रचनाएँ साधारण जनों और विद्वानों दोनों के लिए समान रूप से उद्बोधक होती हैं और एक पुष्ट जीवन-दर्शन का प्रकाश देती हैं। उनके संग्रहीत पाठ श्रमदेयता की उपासना में चित्त की गहराई, बोलचाल का रस, भाषा का ऐश्वर्य और कल्याण की प्रखर प्रेरणा के दर्शन होते हैं। कठिन से कठिन विषय की व्याख्या विनोबा एक अपूर्व रसमयता से करते हैं।

श्री विनोदबिहारीलाल भटनागर ने पंचाचूली की ध्वज्य का वर्णन बड़े स्पष्ट और हृदयग्राही ढंग से किया है। तथ्यात्मक घटना का सजीव और रोचक वर्णन कैसा होना चाहिए इसका यह एक अच्छा उदाहरण है। साथ ही इस रचना में युवक-हृदयों के लिए पौरुष को दीप्त करने वाली एक शुभ प्रेरणा है।

कल्पना शक्ति में भारतेन्दु कालीन प्रमुख गद्य-लेखक स्वर्गीय श्री बालकृष्ण भट्ट की अनोखी लेखन-क्षमता का परिचय मिलता है। आधुनिक हिन्दी गद्य को उसके शैशव में जिन निष्ठावान लेखकों ने परिपुष्ट किया उनमें भट्ट जी का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण है। कल्पना जैसे अमूर्त विषय पर रोचक ढंग से इस पाठ में प्रकाश डाला गया है।

स्वर्गीय प्रेमचंद हिन्दी के महिमान्वित कथाकार ही नहीं, युगान्तरकारी लेखक भी थे। उनकी रचनाओं ने हिन्दी के कथा-साहित्य को एक नई दिशा दिखाई। उपन्यासकार और कहानी-लेखक के रूप में उनका स्थान अद्वितीय है। सहज भाषा, उनके विचारों का अनुगमन करती है। देश के दरिद्र देहातों की उपेक्षित जनता की मार्मिक कथाओं का उन्होंने चित्रण किया है। उत्तर भारत के ग्रामीण जीवन के सैकड़ों जीवित दृश्य उन्होंने उपस्थित किये हैं। दो बँलों की कथा में प्रेमचंद जी की रचना-शैली की प्रमुख विशेषताएँ उपस्थित हैं। वे उपदेशक के रूप में अपनी बात नहीं कहते, लेकिन उनकी अनेक रचनाएँ कथाओं के माध्यम से ऊँची भावनाओं की प्रेरणा देती चलती हैं। भारतीय कथा-साहित्य के महान स्रष्टाओं में उनकी गणना है। उपन्यासों से अधिक कहानियों में उनकी प्रतिभा चमकी है।

स्वर्गीय श्री ब्रजमोहन वर्मा का जीता जागता तिलिस्म, सरल और रोचक ढंग से वैज्ञानिक विषयों के वर्णन का अच्छा उदाहरण है। विज्ञान की बारीकियों से अपरिचित पाठक भी वर्माजी की रचनाओं द्वारा आविष्कारों का परिचय भलीभाँति प्राप्त कर सकता है। साहित्य के इस अंग को पुष्ट करने में वर्माजी ने कुशल पत्रकार की सूझ का परिचय दिया है।

भदंत आनन्द कौसल्यायन की रचनाओं में उनकी अपनी विशिष्ट भाषा शैली की दृढ़ छाप रहती है। उनकी भाषा सहज होते हुए भी एक बाँकापन लिये रहती है। उनके व्यंग मर्म को सीधे स्पर्श करते हैं। आनन्द जी ने अनेकानेक ग्रंथों की रचना की है। बौद्ध-साहित्य के अनेक ग्रंथों का पाली से हिन्दी में अनुवाद किया है। इन रचनाओं में उनकी विद्वत्ता और अध्ययन-मनन का परिचय मिलता है। लेकिन उनकी साहित्यिक प्रतिभा और संवेदनशीलता का परिचय उनके व्यक्तित्वगत निबंधों में मिलता है। छोटी सी घटना का भी वर्णन वे ऐसे अनूठे ढंग से करते हैं कि वह हृदय को बेध देता है। **माँ का हृदय** एक ऐसी ही मार्मिक रचना है।

हिन्दी के आधुनिक लेखकों में श्री सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन का एक प्रमुख स्थान है। 'अज्ञेय' उपनाम से वे कविताएँ लिखते हैं। उनकी गद्य-रचनाओं में **शेखरः एक जीवनी** प्रमुख है। उपन्यास, जीवनी, भ्रमण-वृत्त आदि विषयों पर वात्स्यायन जी की रचनाएँ लोकप्रिय हुई हैं। उनकी भाषा और गद्य-शैली में एक सुथरापन है। बौद्धिकता की छाप उनकी अधिकांश रचनाओं में है। किंतु लेखक की बौद्धिकता उसकी रचनाओं का सारस्य नष्ट नहीं कर पाती। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी पर उनका वक्तव्य न केवल सूचनात्मक है, वरन् साहित्यिक व्यक्तियों के संबंध में लिखे गये संक्षिप्त रेखाचित्रों में उल्लेखनीय है।

नाटककार और कवि के रूप में डॉ० रामकुमार वर्मा को हिन्दी जगत् भलीभाँति जानता है। हिन्दी में जिन थोड़े-से नाटककारों ने श्रेष्ठ नाटकों की रचना की है उनमें डॉ० रामकुमार वर्मा हैं। इनके नाटकों में संवाद और कथा-वस्तु का निर्वाह बड़ी कुशलता से प्रस्तुत होते हैं। **तैमूर की हार** वर्मा जी का एक ऐतिहासिक एकांकी नाटक है। कथोपकथन की ओजस्विता और चरित्र-चित्रण की सजीवता इस एकाङ्की की विशेषताएँ हैं।

वसंत आ गया है, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनेक सुपरिचित निबंधों में से एक है। द्विवेदीजी की रचनाओं में पांडित्य और सरसता का अनोखा समन्वय है। वे एक साथ ही साहित्य-स्रष्टा और साहित्य के आलोचक

हैं। शोध के क्षेत्र में भी उन्होंने बहुमूल्य कार्य किया है। उनकी 'बाणभट्ट की आत्मकथा' एक अमर रचना है। हिन्दी के श्रेष्ठतम निबंधकारों में द्विवेदीजी का आदरणीय स्थान है। उनके निबंधों में विषयगत तथा शैलीगत विविधता अभिभूत कर लेती है। उनकी भाषा में एक सहज-प्रसन्न प्रवाह और माधुर्य रहता है। अभिव्यंजना, व्यंग्य और विनोद उनकी शैली को चमत्कृत करते हैं। प्राचीन साहित्य और संस्कृति को वे अपनी वाणी में सहज ही प्राणवान बना देते हैं। संकलित निबंध में वसंत का अनूठा स्वागत द्विवेदीजी ने किया है।

श्री रामनाथ 'सुमन' की महिलोपयोगी रचनाएँ अधिक लोकप्रिय हैं। पुरुष अच्छे नागरिक बनें, महिलाएँ अच्छी माताएँ बनें, इन उद्देश्यों को सामने रख कर सुमनजी ने अनेक सफल रचनाएँ की हैं। प्रस्तुत निबंध में नागरिकता से संबंधित ज्ञान और कर्तव्य की रूपरेखा ही नहीं दर्शाई गयी है बल्कि प्रयत्न द्वारा श्रेष्ठ नागरिक बनने की प्रेरणा भी उसमें मौजूद है।

काका कालेलकर सुप्रसिद्ध गांधीवादी देशसेवी तो हैं ही, भारतीय साहित्य का भाण्डार बढ़ाने वाले कुशल शब्द-शिल्पी भी हैं। मराठी, गुजराती और हिन्दी में उन्होंने रचनाएँ की हैं। संकलित गंगा मैया निबंध रसाद्रता और देशप्रेम की सच्ची भावना से अभिभूत कर देनेवाला है। काका साहेब ने खूब देशाटन किया है और उनके भ्रमण-वृत्त बड़े ही सजीव और मनोहारी होते हैं। देश की वन्दनीय नदियों को वे 'लोकमाताएँ' मानते हैं। गंगा मैया का प्रस्तुत चित्रण उन्होंने उसी भावना से किया है जैसे कोई मातृ-भक्त पुत्र अपनी माँ का चित्र खींचे।

राजनीति, दर्शन, समाज-शास्त्र और भारतीय संस्कृति से संबंधित-विषयों पर डॉ० सम्पूर्णानन्द की रचनाएँ हिन्दी साहित्य में समादृत हैं। 'पृथ्वी से सप्तर्षि लोक' नामक एक वैज्ञानिक कथा (साइंटिफिक फ़िक्शन) की भी उन्होंने रचना की है। उनकी भाषा उनके विचारों के अनुरूप होती है और विषय प्रतिपादन की पांडित्यपूर्ण शैली की परम्परा का निर्वाह उनकी

रचनाओं में प्रकट होता है। समाज और धर्म निबंध में उन्होंने व्यापक मानवता की पृष्ठभूमि में सामाजिक धर्म की विवेचना की है।

शिक्षाशास्त्री, बहुभाषाविद, अध्यापक, लेखक और नाटककार पं० सीताराम चतुर्वेदी की भाषा अत्यंत समलंकृत नर्त्यमान मूर्ति की भाँति चेष्टा-रत होती है। शब्दों के वे कुशल शिल्पी हैं। उनका कृतित्व व्यापक है। महामना मालवीय जी की एक विस्तृत जीवनी भी चतुर्वेदी जी ने लिखी है। संकलित निबंध 'मेरे मालवीय जी' में भाषा की छटा और शैली की कवित्वमयता के समन्वय की सहायता से पावन प्रेरणा के एक अशेष पुंज की झलक हमें मिलती है।

स्वर्गीय श्री जयशंकर 'प्रसाद' बहुमुखी प्रतिभा के स्वामी थे। वे कवि थे, नाटककार थे और कथाकार थे। तीनों ही क्षेत्रों में उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा हिन्दी साहित्य के गौरव और श्री मे अनमोल वृद्धि की। गूढ़ साई की कहानी उनकी प्रसिद्ध कहानियों में एक है। परिष्कृत और कलात्मक शैली तथा प्रवाहमयी प्रांजल भाषा के श्रेष्ठ उदाहरण उनकी रचनाओं में उपलब्ध हैं। गूढ़ साई की मार्मिकता हृदय पर एक स्थायी प्रभाव छोड़ जाती है।

तुलसी का भक्ति मार्ग, हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य आलोचक स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के आलोचनात्मक निबंधों की गंभीर शैली का परिचय देता है। उनकी रचनाओं में विचार और चिंतन का प्राधान्य रहता है। स्वभावतः उनकी भाषा में संस्कृत शब्दों की प्रचुरता रहती है। यह कहना गलत न होगा कि परिमार्जित गंभीर आलोचना और विचारप्रधान गद्य लेखन की नींव शुक्लजी की रचनाओं ने ही स्थापित की। उनकी कृतियों ने हिन्दी गद्य साहित्य को सच्चे अर्थों में आगे बढ़ाया। अपने समय के वे श्रेष्ठतम निबंध लेखक थे। उनकी परम गंभीर शैली पाठक को चिंतन और विचार के लिए विवश कर देती है।

रेखा चित्रों की रचना में हिन्दी की श्रेष्ठ कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा की लेखनी बेजोड़ है। उनके रेखाचित्र आख्यायिकाओं से भी अधिक चित्ता-

कर्षक होते हैं। सहज-सरस और प्रवाहमयी भाषा उनके वर्णन के पीछे-पीछे अनायास चलती रहती है। दो पर्वत पुत्र महादेवीजी की हिमालय यात्रा के संस्मरणों में गुंथी एक मार्मिक गाथा है। उदात्त भावनाओं की रसमयता ने महादेवीजी के संस्मरणात्मक रेखाचित्रों को अत्यंत हृदयग्राही बना दिया है।

आदर्श के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग करने वाले अमर शहीद श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के बलिदान की गाथा भारतीय स्वाधीनता-संग्राम की एक चिरस्मरणीय ज्वलंत घटना है। श्री रतनलाल बंसल कुशल लेखक हैं। उनकी शैली सहज और सुबोध है। अमर बलि-पंथी विद्यार्थीजी की गाथा उन्होंने प्रभावोत्पादक ढंग से अंकित की है।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल भारतीय इतिहास, संस्कृति, तथा पुरातत्त्व के प्रकाण्ड पंडित हैं। उन्होंने महत्त्वपूर्ण शोध-कार्य किये हैं। गंभीर चिंतन के रंग में रँगी उनकी रचनाओं में सुकुमार अभिव्यंजना और सरल सुगठित भाषा का अनूठा मेल रहता है। उनकी व्याख्या में मौलिकता रहती है। राष्ट्र का स्वरूप उनके अनेकानेक उत्तम निबंधों में से एक है। वासुदेवजी की रचनाओं की जिन विशेषताओं का संकेत ऊपर किया गया है, उनका परिचय इस लेख में मिलता है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त हिन्दी साहित्य में सर्वोच्च प्रतिष्ठा-प्राप्त श्रद्धेय स्रष्टा हैं। उनकी पद्य रचनाओं ने एकाधिक पीढ़ियों को प्रेरणा और उद्बोधन का वरदान दिया है। यद्यपि उनकी गद्य-रचनाएँ बहुत कम हैं, तथापि हिन्दी के इस महान कवि की लेखनी कितना मनोहर गद्य रच सकती है, इसका उत्तम प्रमाण बुद्धदेव है। यशोधरा गुप्तजी की सुप्रसिद्ध काव्य कृति है। इस रचना के आरंभ में गद्य में उन्होंने यशोधरा का कथा-वस्तु लिखा है। संग्रहीत रचना बुद्धदेव उक्त कथा-वस्तु का ही उद्धरण है। ममतामयी अनुभूति, लालित्यपूर्ण भाव-व्यंजना, अत्यंत सरल किंतु प्राणवान भाषा, गुप्त जी की रचनाओं की अनेक विशेषताओं में से प्रमुख हैं। एक परम आस्तिक की निष्ठा उनकी रचनाओं को महिमान्वित करती है।

संग्रह का अंतिम पाठ 'स्मृति-तर्पण' है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के बलिदान के पश्चात् उनकी स्मृति में सैकड़ों-हजारों भारतीयों ने अपने-अपने हृदय के उद्गार शब्दों में बाँधे। प्रस्तुत पाठ में दो लघु निबंध संयुक्त रूप से उपस्थित किये गये हैं। वह चला गया शीर्षक से आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी न और गांधी मलंग शीर्षक से श्री गुरुदयाल मल्लिक ने अपनी-अपनी श्रद्धांजलियाँ अर्पित की हैं। भावना और श्रद्धा में डूबी हुई ये दोनों रचनाएँ प्रेरणा और उद्बोधन के हृदयस्पर्शी संदेश देती हैं। द्विवेदी जी की रचना शैली के संबंध में अन्यत्र कहा जा चुका है। श्री गुरुदयाल मल्लिक की शैली में एक मौलिकता पाई जाती है। उनकी अभिव्यंजना वक्र होते हुए भी सुबोध होती है। उनके स्फुट लेखों और निबंधों की संख्या प्रचुर है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ के निकट संपर्क में वे रहे हैं। सदाशयता और सहानुभूति के स्वर उनकी रचनाओं में प्रबल रहते हैं।

‘भारतमाता की जय!’

जवाहरलाल नेहरू

रात हो गई थी। हम तेज़ी से रोहतक-दिल्ली रोड की ओर बढ़े, क्योंकि उस रात को हमें दिल्ली पहुँच कर गाड़ी पकड़नी थी। नींद मुझे बुरी तरह घेर रही थी। यकायक हमें रुकना पड़ा, क्योंकि बीच सड़क पर आदमी और औरतों को भीड़ बैठी थी। कुछेक के हाथों में मशालें थीं। वे आगे बढ़कर हमारे पास आये और जब उन्हें सन्तोष हो गया कि हम कौन हैं, तब उन्होंने बताया कि दोपहर से वे वहाँ बैठे-बैठे इंतज़ार कर रहे हैं। वे सब हृष्ट-पुष्ट जाट थे। उनमें ज्यादातर छोटे-मोटे ज़मींदार थे। उनसे बिना थोड़ी-बहुत बातचीत किये आगे बढ़ना मुमकिन नहीं था। हम बाहर आये और रात के धुंधलेपन में हजारों या इससे भी ज्यादा जाट मर्दों और औरतों के बीच बैठ गये।

उनमें से एक चिल्लाया, ‘कौमी नारा!’ और हजारों गलों ने मिलकर जोश के साथ तीन बार चिल्लाकर कहा—वन्देमातरम्! और फिर उन्होंने ‘भारतमाता की जय’ के नारे लगाए।

“यह सब ‘वन्देमातरम्’ और ‘भारतमाता की जय’ किस लिए हैं?”—मैंने पूछा।

कोई उत्तर नहीं। पहले उन्होंने मुझे घूर कर देखा और फिर एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। दिखाई पड़ता था कि वे मेरे सवाल करने से कुछ परेशान हो उठे हैं। मैंने सवाल दोहराया—“बोलिए, ये नारे लगाने से आपका क्या मतलब है?” फिर भी कोई जवाब नहीं मिला। उस जगह के अधिकारी कांग्रेस-कार्यकर्ता कुछ खिन्न-से हो रहे थे। उन्होंने हिम्मत करके सब बातें बतानी चाहीं; लेकिन मैंने उन्हें प्रोत्साहन नहीं दिया।

“यह ‘माता’ कौन है, जिसको आपने प्रणाम किया है और जिसकी जय के नारे लगाए हैं?”—मैंने फिर सवाल किया। वे फिर चुप और परे-

शान-से हो रहे। ऐसे अजीब सवाल उनसे कभी नहीं किये गए थे। सहज भाव से उन्होंने सब बातों को मान लिया था। जब उनसे नारे लगाने के लिए कहा जाता था, वे नारे लगा देते थे। उन सब बातों के समझने की उन्होंने कभी कोशिश नहीं की। कांग्रेसी कार्यकर्ताओं ने नारे लगाने के लिए कहा तब वे उज्र कैसे कर सकते थे? वे तो खूब जोर से पूरी ताकत लगाकर चिल्ला देते थे। बस, नारा अच्छा होना चाहिए। इससे उन्हें खुशी होती थी और शायद इससे उनके प्रतिद्वन्द्वियों को कुछ डर भी होता था।

अब भी मैंने सवाल करना बन्द नहीं किया। बेहद हिम्मत करके एक आदमी ने कहा कि 'माता' का मतलब 'धरती' से है। उस बेचारे किसान का दिमाग धरती की ओर ही गया, जो उसकी सच्ची माँ है, भला करने और भला चाहनेवाली है।

“कौनसी धरती?”—मैंने फिर पूछा,—“क्या आपके गाँव की 'धरती' या पंजाब की, या तमाम दुनिया की?” इस पेचीदा सवाल से वे और परेशान हुए। तब बहुत-से लोगों ने चिल्लाकर कहा कि इस सबका मतलब आप ही समझाइए? हम कुछ भी नहीं जानते और सारी बातें समझना चाहते हैं।

मैंने उन्हें बताया कि भारत क्या है? किस तरह वह उत्तर में काश्मीर और हिमालय से लेकर दक्षिण में लंका तक फैला हुआ है। उसमें पंजाब, बंगाल, बम्ब, मद्रास सब शामिल हैं। इस महाद्वीप में उनके जैसे करोड़ों किसान हैं जिनकी उनकी जैसी ही समस्याएँ हैं, उन्हींकी सी मुश्किलें और बोझ, वैसी ही कुचलने वाली गरीबी और आफतें। यही महादेश हिन्दुस्तान उन सबके लिए 'भारतमाता' है, जो उसमें रहते हैं और जो उसके बच्चे हैं। भारतमाता कोई सुन्दर बेबस असहाय नारी नहीं है, जिसके धरती तक लटकनेवाले लम्बे-लम्बे बाल हों, जैसा अक्सर कल्पित तस्वीरों में दिखलाया जाता है।

‘भारतमाता की जय!’ यह जय बोलकर हमने किसकी जय बोली? उस कल्पित स्त्री की नहीं जो कहीं भी नहीं है। तब क्या यह जय

हिन्दुस्तान के पहाड़ों, नदियों, रेगिस्तानों, पेड़ों, पत्थरों की बोली जाती है ?

“नहीं”। उन्होंने जवाब दिया। लेकिन कोई ठीक उत्तर वे भुंके न दे सके।

“निश्चय ही हम जय उन लोगों की बोलते हैं जो भारत में रहते हैं, उन करोड़ों आदमियों की जो उसके गाँवों और नगरों में बसते हैं।”—मैंने उन्हें बताया। इस जवाब से उन्हें हार्दिक प्रसन्नता हुई और उन्होंने अनुभव किया कि जवाब ठीक भी है।

“ये आदमी कौन हैं ? निश्चय ही आप और आपके भाई। इसलिए जब आप भारतमाता की जय बोलते हैं, तो खुद अपनी और हिन्दुस्तान भरके अपने भाई-बहनों की ही जय बोलते हैं। याद रखिए, ‘भारतमाता’ आप ही हैं और यह आप अपनी ही जय बोलते हैं।”

ध्यान से उन्होंने सुना। प्रकाश की उज्ज्वल रेखा उनके भोले-भाले चेहरों पर उदय होती हुई दिखाई दी। यह ज्ञान उनके लिए विचित्र था कि वह नारा, जिसे वे इतने दिनों से लगा रहे हैं, उन्हीं के लिए था। हाँ, रोहतक जिले के गाँव के उन्हीं बेचारे जाट किसानों के लिए। यह उन्हीं की जय थी। तब आइए, एक बार फिर मिलकर पुकारें—‘भारतमाता की जय !’

अभ्यास के प्रश्न

- १। ‘भारतमाता की जय’ के भीतर वास्तव में किसकी जय छिपी है ? यह नारा हमें किसकी सेवा करने की प्रेरणा देता है ?
- २। ‘भारतमाता कोई सुंदर जाता है।’ (पृ० ३०)
इस वाक्य का आशय स्पष्ट कीजिए।
- ३। निम्नलिखित शब्द किन शब्दों के आधार पर बने हैं और उनके अर्थ क्या हैं ?
खिन्न, प्रोत्साहन, कल्पित, हार्दिक, कप्रसन्नता, पेचीदा।

नारंगी का छिलका

श्रीप्रकाश

‘मेरे दादा की मृत्यु एक ऐसी दुर्घटना के कारण हुई जिसका प्रतिबन्ध सहज में हो सकता था। किसी ने सड़क पर लापरवाही से नारंगी का छिलका फेंक दिया था, उसी पर फिसलकर वे गिर गए। उनका स्वास्थ्य उस समय अच्छा नहीं था। गिरने से बड़ा धक्का लगा और वे फिर अच्छे नहीं हुए।’ —दीनबन्धु ऐण्ड्रूज की जीवनी।

नागरिकता बड़ी सरल वस्तु है, अगर हम केवल इस बात को सदा याद रखें कि दूसरों के साथ हम वैसा ही आचरण करें जैसी हम आशा रखते हैं कि दूसरे हमारे साथ करें। साधारण तौर से मनुष्य का यही भाव रहता है कि वह अपनी तात्कालिक सुविधा देखता है और इसकी चिन्ता नहीं करता कि उसकी लापरवाही का परिणाम दूसरों के लिए क्या होगा। जब हम अपने मकान में, सड़क पर या अन्य निजी या सार्वजनिक स्थान में जाते हैं या रेल पर सफ़र करते हैं तो हमारे सामने सदा अपने भाइयों की लापरवाही का नतीजा दीख पड़ता है जिसके कारण दूसरों की जान खतरे में डाल दी जाती है। नारंगी का छिलका तो बड़ी ही निर्दोष वस्तु मालूम पड़ती है और अपने स्थान पर बड़ा सुन्दर भी होता है, परन्तु वही छिलका यदि अविवेक के साथ अनुपयुक्त स्थान पर फेंक दिया जाय तो खासा भयानक हो जाता है।

अच्छा नागरिक सदा इसका विचार रखता है कि दूसरे को उसके कारण अनावश्यक असुविधा या क्षति न पहुँचे। भारत में सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि हमारे घर सुव्यवस्थित हों। घरों में ही बच्चे पाले जाते हैं और वहीं उन्हें अच्छे और सच्चे नागरिक बनने की शिक्षा दी जा सकती है।

माता-पिता बाल्यावस्था में जो छोटी-छोटी पर अत्यन्त आवश्यक बातों की शिक्षा देते हैं वे मन में जम जाती हैं और उनके जीवन का अंग हो जाती हैं। इसके सामने स्कूलों और कॉलेजों की शिक्षा, यहाँ तक कि आगे चलकर जीवन के कटु अनुभवों की भी शिक्षा कोई चीज नहीं है। अगर हम अपने घरों को देखें तो यह पाते हैं कि वहाँ सदा सभी चीजें अस्तव्यस्त रहती हैं। सब चीज सब जगहों पर पड़ी हुई हैं और सभी काम सभी जगह लोग अपनी तात्कालिक सुविधा के अनुसार करते रहते हैं। इसी कारण फल और तरकारी के छिलके, कागज के टुकड़े आदि चारों तरफ बिखरे रहते हैं और भाड़ू को अपना काम किये देर नहीं होती कि सारा स्थान फिर गन्दा हो जाता है। जान-बूझकर हम किसी की हानि करना नहीं चाहते, पर हमें इसका ख्याल ही नहीं होता कि हम कोई अनुचित कार्य कर रहे हैं, क्योंकि हमें किसी ने बतलाया ही नहीं कि क्या करना चाहिए। बच्चे, स्त्रियाँ, यहाँ तक कि वयोवृद्ध पुरुष भी घरों को सदा अस्तव्यस्त अवस्था में रखने में सहायक होते हैं।

यदि हम विचार करें तो यह कितना सहल मालूम पड़ता है कि सब काम निर्धारित स्थानों में किया जाय और सब वस्तुएँ निर्धारित स्थानों में रखी जायँ। हमें जब किसी चीज की आवश्यकता होती है तो वह नहीं मिलती। कारण यह कि आवश्यकता के लिए हमने उसे पहले हटाया था, पर आलस्य के कारण काम हो जाने पर उसे फिर वापस उसके स्थान पर नहीं रख दिया। परिणाम यह होता है कि जब हमें उसकी फिर आवश्यकता होती है तो उसे सारे घर में खोजना पड़ता है। मोजे, जूते, सुई, डोरा, चारों तरफ फँके रहते हैं, और ताली के गुच्छों की खोज तो किसी-न-किसी को रोज ही करते रहना पड़ता है। घर पर की लापरवाही के अभ्यास के कारण बाहर भी हम लापरवाह बने रहते हैं। सड़कों पर, स्टेशनों पर, यहाँ तक कि रेलगाड़ी के भीतर भी हम अपनी खराब आदतों के भयंकर नतीजे देखते हैं। छोटी उम्र की आदत जन्म भर बनी रहती है, बड़ी उम्र में भी वह हमें नहीं छोड़ती।

क्या हमारे पाठकों ने केले और नारंगी के छिलके चारों तरफ पड़े हुए नहीं देखे हैं ? क्या ऐसा कभी नहीं हुआ है कि जरूरी काम से जब वे सड़क पर चले जा रहे हों या जल्दी में रेल पर चढ़ने के लिए प्लेटफार्म पर दौड़े हों तो इन पर फिसल कर गिर पड़े हों ? अगर उनका ऐसा अनुभव है तो क्या उन्होंने स्वयं छिलके ऐसी जगहों पर नहीं फेंके हैं जहाँ फेंके नहीं जाने चाहिए थे ? क्या उन्होंने सदा इसका विचार रखा है कि घरों में इन्हें अलग टोकरी में रखें, सड़कों पर इन्हें कूड़े की बाल्टियों में डालें और रेल में खिड़की के बाहर फेंकें ? क्या कभी नहीं हुआ है कि जब वे रेल पर चढ़े हों तो वहाँ पर व्यर्थ का कूड़ा-करकट पाकर उन्हें बड़ा क्रोध आया हो और उन्होंने उन मुसाफिरों को मन-ही-मन खूब कोसा हो जो उस डब्बे में पहले चढ़े थे और जिन चीजों को बाहर फेंक देना चाहिए था, इन्हें डब्बे में ही छोड़कर चल दिये थे ? क्या उन्होंने खुद इसका विचार रखा कि अपने इसी प्रकार के आचरण से आगे आने वाले मुसाफिरों को कोसने का मौका न दें ? उन्होंने उस कूड़े-करकट को कम किया या स्वयं भी उसकी वृद्धि में सहायक हुए ? पाठकगण, स्मरण रखिये, अपने-अपने स्थान में हर चीज़ ठीक है, अस्थान में वही गंदगी है। हमें वही मिलेगा जिसके हम योग्य हैं, और सार्वजनिक अधिकारियों की तरफ से भी सफ़ाई आदि का उन्हीं स्थानों में अधिक प्रबन्ध रखा जायगा जहाँ के रहने वाले उस पर जोर देते हैं, और खुद साफ़ रहते हैं। जिन्हें गंदगी गंदगी ही नहीं मालूम पड़ती, जो खुद साफ़ नहीं रहते, उनके यहाँ सफ़ाई कोई नहीं करता। जैसा मैंने पहले ही कहा था, नागरिकता बड़ी छोटी और सहल-सी चीज़ है और यदि हमें यह सदा स्मरण रहे कि छिलके, कागज़ आदि हमें ठीक-ठीक स्थानों पर रखने चाहिए तो हमने नागरिक शास्त्र के प्रथम अध्याय की अच्छी और उपयोगी शिक्षा प्राप्त कर ली है और हम अच्छे नागरिक बनने अर्थात् सच्चा और स्थायी स्वराज्य प्राप्त करने के मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं। वास्तव में सच्चा नागरिक ही सच्चा देश-भक्त है।

अभ्यास के प्रश्न

- १। 'सच्चा नागरिक ही सच्चा देशभक्त है'—इस वाक्य को शीर्षक मानकर नागरिकता के विषय में एक छोटा सा निबंध लिखिए।
- २। 'अपने-अपने स्थान में हर चीज ठीक है, अस्थान में वही गंदगी है।' इस कथन का आशय स्पष्ट करते हुए उसके समर्थन में कुछ उभयुक्त उदाहरण दीजिए।
- ३। नागरिकता का पालन करने के लिये जीवन में किस सूत्र का स्मरण रखना चाहिए?
- ४। निम्नलिखित शब्दों के अर्थ बताते हुए वाक्यों में उनका सार्थक प्रयोग कीजिए :—
तात्कालिक, सार्वजनिक, निर्दोष, अविवेक, क्षति, अस्तव्यस्त, वयोवृद्ध।
- ५। निम्नलिखित वाक्य का सरल पृथक्करण कीजिए :—
'जानबूझ कर.....चाहिए'। (पृष्ठ ३३)।

सर विलियम जोन्स ने कैसे संस्कृत सीखी

महावीरप्रसाद द्विवेदी

सर विलियम जोन्स संस्कृत के बहुत प्रसिद्ध पंडित हो गये हैं। उन्होंने बंगाल की एशियाटिक सोसायटी की नींव डाली थी। यद्यपि उनके पहले भी कई योरप-निवासियों ने इस देश में आकर संस्कृत की थोड़ी बहुत शिक्षा प्राप्त की थी, तथापि सर विलियम की तरह बड़ी-बड़ी कठिनाइयों को भेलकर संस्कृत का यथेष्ट ज्ञान और किसी ने उनके पहले नहीं प्राप्त किया था। एशियाटिक सोसायटी की स्थापना करके उन्होंने बहुत बड़ा काम किया। इस सोसायटी की बदौलत पौर्वात्य भाषाओं के अनेक अलभ्य ग्रन्थ आज तक प्रकाशित हो चुके हैं और अनेक अश्रुतपूर्व विद्या और कला आदि के विषय की बातें मालूम हुई हैं। यदि सर विलियम जोन्स संस्कृत सीख कर संस्कृत के ग्रन्थों का अनुवाद अंग्रेजी में न प्रकाशित करते तो शायद संस्कृत भाषा और संस्कृत-साहित्य का महत्त्व यूरोप के विद्वानों पर विदित न होता। और यदि होता भी तो बहुत दिन बाद होता।

कैसी-कैसी कठिनाइयों को भेलकर सर विलियम ने कलकत्ते में संस्कृत सीखी? क्या हम लोगों में एक भी मनुष्य ऐसा है जो सर विलियम की आधी भी कठिनाइयाँ उठा कर संस्कृत सीखने की इच्छा रखता हो? कितनी लज्जा, कितने दुःख, कितने परिताप की बात है कि विदेशी लोग इतना कष्ट उठाकर और इतना धन खर्च करके संस्कृत सीखें और संस्कृत-साहित्य के जन्मदाता भारत-वासियों के वंशज फ़ारसी और अंग्रेजी शिक्षा के मद में मतवाले होकर यह भी न जानें कि संस्कृत नाम किस चिड़िया का है! संस्कृत जानना तो दूर की बात है, हम लोग अपनी मातृभाषा हिन्दी भी तो बहुधा नहीं जानते। और जो लोग जानते हैं उन्हें हिन्दी लिखते शरम आती है!

इन मातृभाषा-द्रोहियों का ईश्वर कल्याण करे ! सात समुद्र पार कर इंगलैंड वाले यहाँ आते हैं और न जाने कितना परिश्रम और खर्च उठाकर यहाँ की भाषाएँ सीखते हैं, फिर अनेक उत्तमोत्तम ग्रन्थ लिख कर ज्ञानवृद्धि करते हैं। उन्हीं के ग्रन्थ पढ़कर हम लोग अपनी भाषा और अपने साहित्य के तत्वज्ञानी बनते हैं, पर खुद कुछ नहीं करते। करते हैं सिर्फ व्यर्थ काला-तिपात। और करते हैं अंग्रेजी लिखने की अपनी योग्यता का प्रदर्शन। घर में घोर अंधकार है, उसे तो दूर नहीं करते, विदेश में जहाँ गैस और बिजली की रोशनी हो रही है, चिराग जलाने दौड़ते हैं।

सर विलियम जोन्स, सुप्रीम कोर्ट के जज मुकर्रर होकर, १७८३ ईसवी में कलकत्ते आए। यहाँ आकर उन्होंने थोड़ी-सी हिन्दी सीखी। उसकी मदद से वे अपने नौकरों से किसी तरह बातचीत करने लगे। उसके बाद उन्हें संस्कृत सीखने की इच्छा हुई। इससे वे एक पंडित की तलाश में लगे। पर पंडित उन्हें कैसे मिल सकता था ? वह आजकल का जमाना तो था नहीं। एक भी ब्राह्मण वेद और शास्त्र की पवित्र संस्कृत भाषा एक यवन को सिखाने पर राजी न हुआ। कृष्णनगर के महाराज शिवचन्द्र सर विलियम के मित्र थे। उन्होंने भी बहुत कोशिश की, पर व्यर्थ। यवन को संस्कृत-शिक्षा ! शिव ! शिव !! सर विलियम ने बहुत बड़ी तनख्वाह का भी लालच दिया। पर उनका यह प्रयत्न भी निष्फल हुआ। लालच के मारे दो-एक पंडित सर विलियम के यहाँ पधारे भी और इसका निश्चय करना चाहा कि यदि वे उन्हें संस्कृत पढ़ावें तो क्या तनख्वाह मिलेगी। पर जब यह बात उनके पड़ोसियों ने सुनी तब उनके तलवों की आग मस्तक तक जा पहुँची। 'तुम यवनों के हाथ हमारी परम पवित्र देववाणी बेचोगे ! अच्छी बात है ; तुम बिरादरी से खारिज। तुम्हारा जलग्रहण बन्द।' बस, फिर क्या था, उनका सारा साहस काफूर हो गया। फिर उन्होंने सर विलियम के बंगले के अहाते में कदम नहीं रक्खा। अब क्या किया जाय ? खैर कलकत्ते में न सही, और कहीं कोई पंडित मिल जाय तो अच्छा। यह समझ कर सर विलियम संस्कृत के प्रधान पीठ नवद्वीप को गये। वहाँ

भी उन्होंने बहुत कोशिश की, परन्तु किसी ने उन्हें संस्कृत शिक्षा देना अंगीकार न किया। मूँड़ मार कर वहाँ से भी लौट आये।

इस नाकामयाबी और नाउम्मेदी पर भी सर विलियम जोन्स ने रगड़ नहीं छोड़ी। पण्डित की तलाश में वे बराबर बने ही रहे। अन्त में ब्राह्मण तो नहीं, वैद्य-जाति के एक संस्कृतज्ञ ने, सौ रुपये महीने पर, आपको पढ़ाना मंजूर किया। इस पण्डित का नाम था रामलोचन कवि-भूषण। ये पण्डित महाराज संसार में अकेले ही थे। न स्त्री थी, न सन्तति। हबड़ा के पास सलकिया में आप रहते थे। किसी से कुछ सरोकार न रखते थे। सब से अलग रहते थे। इसी से आपको जाति या समाज के बहिष्कार का डर न था। पण्डित महाशय वैद्य-विद्या भी जानते थे। पास-पड़ोस के लोग चिकित्सा कराने के लिये आपको अक्सर बुलाते थे। कभी-कभी इनके रोगी अच्छे भी हो जाते थे। इससे इन्होंने अपने मन में कहा कि यदि हम इस यवन को संस्कृत पढ़ाएँगे तो भी हमारे टोले-मुहल्ले के लोग हमें न छोड़ सकेंगे। जब कोई बीमार होगा, तो लाचार होकर उन्हें हमीं को बुलाना पड़ेगा; क्योंकि और कोई वैद्य यहाँ है ही नहीं। इसीसे इन्हें सर विलियम जोन्स को पढ़ाने का साहस हुआ। एक तो १००) महीने तनख्वाह, फिर सलकिया से चौराँधी तक रोज आने-जाने के लिए मुफ्त में पालकी की सवारी। याद रहे उस समय पालकी की सवारी के लिए महीने में तीस रुपये से कम न खर्च होते थे। अतएव अपना सब तरह से फ़ायदा समझकर रामलोचन ने सर विलियम को पढ़ाने का निश्चय किया।

कविभूषणजी ने सर विलियम जोन्स के साथ बड़ी-बड़ी शर्तें कीं, पर सर विलियम इतने उदार हृदय थे कि उन्होंने सब शर्तों को मंजूर कर लिया। उनके बँगले के नीचे के खण्ड का एक कमरा पढ़ाने के लिए पसन्द किया गया। उसके फ़र्श में संगमरमर बिछवाया गया। एक हिन्दू नौकर रखा गया। उसके सिपुर्द यह काम हुआ कि वह रोज हुगली से जल लाकर कमरे के फ़र्श को और थोड़ी दूर तक दीवारों को भी धोवे। दो-चार लकड़ी की क़र्सियों और एक लकड़ी की मेज के सिवा और सब चीज़ें उस

कमरे से हटा दी गईं। ये चीजें भी रोज धोई जाने लगीं। शिक्षा-दान के लिए सबेरे की बेला नियत हुई। पढ़ने के कमरे में क्रम रखने के पहले सर विलियम को हुक्म हुआ कि एक प्याला चाय के सिवा न कुछ खाएँ न पिएँ। यह भी उन्हें मंजूर करना पड़ा। कविभूषणजी की यह भी आज्ञा हुई कि गो-मांस, वृष-मांस, शूकर-मांस मकान के अन्दर न जाने पावे। यह बात भी कबूल हुई। एक कमरा पण्डितजी को कपड़े पहनने के लिए दिया गया। उसके भी रोज धोये जाने की योजना हुई। पण्डित महाशय ने दो जोड़े कपड़े रखे। उनमें से एक जोड़ा इस कमरे में रक्खा गया। रोज प्रातःकाल जिस कपड़े को पहन कर आप साहब के यहाँ आते थे, उसे इस कमरे में रख देते थे और कमरे में रक्खा हुआ जोड़ा पहन कर आप पढ़ाते थे। चलते समय फिर उसे बदलकर घरवाला जोड़ा पहन लेते थे।

इतने महाभारत के बाद सर विलियम ने “रामः, रामी, रामाः” शुरू किया। न सर विलियम संस्कृत जानें, न कविभूषण महाशय अंग्रेजी। पाठ कैसे चले? खैर इतनी थी कि साहब थोड़ी सी टूटी-फूटी हिन्दी बोल लेते थे। उसी की मदद से पाठारम्भ हुआ। दोनों ने उसी की शरण ली। सौभाग्य से अध्यापक और अध्येता दोनों बुद्धिमान थे। नहीं तो उतनी थोड़ी हिन्दी में कभी काम न चलता। सर विलियम ने बड़ी मिहनत की। एक ही वर्ष में वह सरल संस्कृत में अपना आशय प्रकट कर लेने लगे। संस्कृत में लिंगभेद और क्रियाओं के रूप बड़े मुश्किल हैं। बहुत सम्भव है, पहले पहल सर विलियम ने बहुत सी संज्ञाओं और क्रियाओं के रूप कागज पर लिख लिये होंगे। उनकी तालिकाएँ बना ली होंगी। उन्हीं की मदद से उन्होंने आगे का काम निकाला होगा। किस तरह उन्होंने पण्डित रामलोचन से संस्कृत सीखी, कहीं लिखा हुआ नहीं मिलता। यदि उनकी पाठ-ग्रहण-प्रणाली मालूम हो जाती तो उसे जानकर जरूर कुतूहल होता।

• एक दिन सर विलियम जोन्स पण्डित महाशय से बातचीत कर रहे थे। बातों-बातों में नाटक का चित्र आया। आपको मालूम हुआ कि संस्कृत में

भी नाटक के ग्रन्थ हैं। उस समय भी कलकत्ते में अमीर आदमियों के यहाँ नाटक खेले जाते थे। अंग्रेजों को यह बात मालूम थी। पण्डित रामलोचन ने कहा कि पुराने जमाने में भी राजाओं और अमीर आदमियों के यहाँ ऐसे ही नाटक हुआ करते थे। यह सुनकर सर विलियम को आश्चर्य हुआ और पण्डित रामलोचन से आप 'शकुन्तला' पढ़ने लगे। उस पर आप इतने मुग्ध हुए कि उसका गद्य-पद्यमय अंग्रेजी अनुवाद आपने कर डाला। यद्यपि अनुवाद अच्छा नहीं बना, तथापि उसने यूरोपवालों की आँखें खोल दी। उसे पढ़कर लोगों ने पहले पहल जाना कि संस्कृत का साहित्य खूब उन्नत है। जर्मनी का गंटे नामक कवि तो सर विलियम के अनुवाद को पढ़ कर अलौकिक आनन्द से मत्त हो उठा। उसने उसी मत्तता की दशा में शकुन्तला की स्तुति में एक कविता तक बना डाली।

सुनते हैं, सर विलियम जोन्स के संस्कृत-शिक्षक बड़े तेज-मिज्राज आदमी थे। जो बात सर विलियम की समझ में न आती थी उसे गुरु जी से पूछना पड़ता था। गुरु महाशय ठीक तौर से पढ़ाना जानते न थे। वे सर विलियम को भी उसी रास्ते ले जाते थे जिस रास्ते टोल (पाठशालाओं) के बिद्यार्थी जाते हैं। इससे सर विलियम को कभी-कभी कोई बात दो-दो तीन-तीन दफ़े पूछनी पड़ती थी। एक दफ़े बताने से वह उनके ध्यान ही में न आती थी। ऐसे मौकों पर गुरुदेव महाशय का मिज्राज गरम हो उठता था। आप झट कह बैठते थे—“यह विषय बड़ा ही क्लिष्ट है, गो-मांस-भोजी लोगों के लिए इसका ठीक-ठीक समझना प्रायः असम्भव है”। पर सर विलियम जोन्स पण्डित महाशय को इतना प्यार करते थे और उन्हें इतना मानते थे कि उनकी इस तरह की मलामतों को हँसकर टाल दिया करते थे।

पण्डित रामलोचन कविभूषण १८१२ ईसवी तक जीवित थे। वे अच्छे विद्वान् थे। काव्य, नाटक अलंकार और व्याकरण में वे खूब प्रवीण थे। पर धर्मशास्त्र और दर्शन में उनकी विशेष गति न थी। इसलिए व्याकरण और काव्य का यथेष्ट अभ्यास कर चुकने पर, जब सर विलियम ने धर्मशास्त्र

का अध्ययन शुरू किया तब उन्हें एक और पंडित रखना पड़ा। यवनों को संस्कृत सिखाना पहले घोर पाप समझा जाता था, पर अब इस तरह का ख्याल कुछ ढीला पड़ गया था। इससे सर विलियम को धर्मशास्त्री पंडित ढूंढने में विशेष कष्ट नहीं उठाना पड़ा।

सर विलियम जोन्स १७८३ ईसवी में जज होकर कलकत्ता आये और १७९४ में वहीं मरे। हिन्दुस्तान आने के पहले ऑक्सफ़ोर्ड में उन्होंने फ़ारसी और अरबी सीखी थी। उनका बनाया हुआ फ़ारसी का व्याकरण उत्तम ग्रन्थ है। वह अब नहीं मिलता। बंगाल की एशियाटिक सोसायटी उन्हीं की क़ायम की हुई है। उसे चाहिए कि इस व्याकरण को वह फिर से प्रकाशित करे, जिसमें सादी और हाफ़िज़ की मनमोहक भाषा सीखने की जिन्हें इच्छा हो, वे उससे फ़ायदा उठा सकें।

अभ्यास के प्रश्न

- १। सर विलियम जोन्स की संस्कृत-शिक्षा की कहानी को रोचक भाषा में लिखिए।
- २। इस लेख से हम क्या सीख सकते हैं ?
- ३। सर विलियम के जीवन और व्यक्तित्व का संक्षिप्त परिचय देते हुए बताइए कि उन्होंने संस्कृत की क्या सेवा की ?
- ४। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य को क्या दिया ? उनकी निबन्ध शैली की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
- ५। निम्नलिखित वाक्य का पृथक्करण और रेखांकित शब्दों की व्याख्या कीजिए :—
कितनी लज्जा, कितने दुःख, कितने परिताप की बात है कि विदेशी लोग इतना कष्ट उठाकर और इतना धन खर्च करके संस्कृत सीखें और संस्कृत साहित्य के जन्मदाता भारत-वासियों के वंशज फ़ारसी और अंग्रेज़ी शिक्षा के मद में मतवाले होकर यह भी न जानें कि संस्कृत नाम किस चिड़िया का है ?

बाघ से भिड़न्त

श्रीराम शर्मा

समय सायंकाल के साढ़े चार बजे। टिहरी गढ़वाल का इलाका। महीना दिसम्बर का। कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा था और चाय पीने में मज्जा आ रहा था कि किसी ने बाहर से पुकारा, “जरा बाहर आइए, एक आदमी आया है और बाघ की खबर लाया है।” बाघ का नाम सुन कर मैं उछल पड़ा। चाय का प्याला वहीं रख कर झट से बाहर आ गया।

बाहर आकर देखा कि पश्मीने की चादर ओढ़े मेरे एक शिकारी मित्र खड़े हैं और उनकी बगल में एक हाड़ का कंकाल बूढ़ा खड़ा है। उसकी मुखाकृति उसकी अंतर्वेदना की द्योतक थी। कष्ट, विपत्ति और समय के उलट-फेर ने उसकी गति तूफान में फँसे जहाज़ की-सी कर दी थी।

एक तो दिन भर की थकावट, दूसरे कुसमय और उस पर कड़ाके का जाड़ा। तबियत बाहर निकलने को न करती थी। पर उस बूढ़े की आँखों में एक खिंचाव था जो हृद्गतरी के तारों को अपनी ओर खींचता था। वह खिंचाव प्रेम का आकर्षण-सा न था, वरन् कंपायमान, भावी आशंका से भयभीत बलिपशु की आँखों से निकलती हुई मूक याचना-सा खिंचाव था।

वन-बीहड़-सहचरी बन्दूक उठाई। कारतूस जेब में डाले और मित्र-महोदय तथा किसान के साथ चल पड़ा। पहाड़ पर कुछ ही आगे गए होंगे कि बूढ़े ने कंधे पर हाथ रख कर कहा, “मालिक! ऊपर देखो। ठीक उस डाँड़े पर मेरी गाय पड़ी है और वहाँ से चार फर्लांग पर पहाड़ के दूसरी ओर दूसरी गाय मरी पड़ी है।” बूढ़े की बात सुनकर बाघ मारने की योजना बनाई। पाँच मिनट तक परामर्श हुआ। परामर्श क्या था, एक प्रकार की युद्ध-कांफ्रेंस थी जिसमें अपने शत्रु की सब चालों का ख्याल किया गया।

परामर्श से हम लोग इस नतीजे पर न पहुँचे कि एक ही बाघ ने दो गायों को मारा होगा। दो बाघों की आशंका से हम लोगों ने अपने दल को दो भागों में विभक्त किया। मेरे मित्र दूसरी गाय की लाश की ओर चले। मैं डाँड़े की ओर चला और यह निश्चय हुआ कि समय अधिक हो जाने पर लाश पर आज बैठना ठीक नहीं।

स्मरण रहे, बाघ जंगल का कूटनीतिज्ञ चाणक्य होता है। छोटी-सी हिलती पत्ती से, आसन बदलने से और कोई-कोई तो कहते हैं कि पलक की आवाज़ से बाघ अपने शत्रु को पहचान लेता है, और फिर लाश पर नहीं आता। इसलिए बाघ को मारने के लिए भाड़ी और कांटों का जो स्थान बनाते हैं वह दिन में चार बजे तक बना लेते हैं। बनाते समय कुछ आदमी इधर-उधर बैठे रहते हैं जिससे बाघ यह समझे कि किसान घास काट रहे हैं। जब शिकारी छिप कर बैठ जाते हैं तब और लोग बातें करते चले जाते हैं जिससे बाघ समझे कि घास काटने वाले चले गए और उसका भोजन बेखटके पड़ा है। ऐसा होने पर भी बाघ एकदम लाश पर नहीं आता। छिप-छिप कर, रुक-रुक कर और देख-देख कर वह एक-एक गज बढ़ता है।

मुझे एक मील के लगभग पहाड़ की चोटी पर पहुँचना था और समय तंग हो रहा था। जंगल में बाघ अपने शिकार पर चार-पाँच बजे ही आ जाता है इसलिए मैं बड़ा चौकन्ना होकर चल रहा था। पहाड़ की चोटी पर डूबते हुए सूरज की लाल किरणें गजब ढा रही थीं। रात्रि-आगमन के चिन्ह चारों ओर दृष्टिगोचर हो रहे थे। चिड़ियाँ भाड़ियों में चहचहा रही थीं, किसान थके-माँदे घर लौट रहे थे। मैं चढ़ाई पर एक-एक पैर सँभाल कर रख रहा था कि कहीं चुपचाप बाघ दिखाई पड़ जाय और वह मुझे न देख पावे तो फिर एक बार जीवन की बाजी लगाकर फ़ायर कर दिया जाय। आधी चढ़ाई के उपरान्त मैं एक चट्टान के किनारे रुका और गिद्ध-दृष्टि से पहाड़ की चोटी की ओर देखा। एक भाड़ी के आस-पास चिड़ियाँ कुछ विचित्र रूप से चहचहा रही थीं। उधर जो देखा तो हृदय की धड़कन एकदम बढ़ गई। सामने तीन सौ गज पर भाड़ी के सहारे

बाघ खड़ा हुआ दिग्दर्शन कर रहा था और चिड़ियाँ अपनी शक्ति भर विरोध का प्रदर्शन कर रही थीं। मेरे पास राइफल न थी, बन्दूक थी। राइफल न लाने की मूर्खता पर अपने को हजार बार कोसा, क्योंकि १२ नम्बर यानी ट्वैल्व बोर बन्दूक की मार इतनी दूर नहीं होती।

बाघ थोड़ी देर बाद अपने शिकार की ओर शाही शान से चला। मैंने अपना मार्ग छोड़ कर कुछ चक्कर काट कर पहाड़ की चोटी पर पहुँचने की ठानी जिससे बाघ पर बगल से छिप कर फ़ायर किया जा सके। बाघ मुझसे तीन सौ गज ऊपर था। वह पहाड़ के ऊपर से ही अपने शिकार की ओर जा रहा था। मैंने आगे बढ़ कर उसके रास्ते में जाना चाहा।

दोनों को एक ही स्थान पर पहुँचना था। जिस प्रकार दो गलियों से कोई चल कर गलियों के मोड़ पर मिलते हैं और जब तक आमने-सामने नहीं आ जाते तब तक एक-दूसरे को नहीं देख सकते, ठीक इसी प्रकार मैं इस विचार से मोड़ की ओर चला कि कहीं पीछे से पचास-साठ गज की दूरी पर बाघ दिखाई पड़ा और मौका हुआ तो उसे मारने की चेष्टा करूँगा। यह केवल अंदाज़ ही अंदाज़ था। यह स्वप्न में भी विचार न था कि अंदाज़ इतना ठीक निकलेगा। जूते उतार कर मैं ऊपर की ओर लपका। जूते इसलिए उतार दिए कि तनिक भी आहट न हो। जब पहाड़ की चोटी का मोड़ पचास-साठ गज रह गया, तब मैं धीरे-धीरे एक-एक पैर गिन कर बन्दूक को बगल में दबाए और हाथ बन्दूक के घोड़े पर रखे आगे बढ़ा। पर ज्यों ही मैं मोड़ पर पहुँचा त्यों ही दूसरी ओर से बाघ आ गया। जंगल में स्वच्छन्द रूप से अभिमान के साथ मस्त चाल से चलते हुए बाघ को इतने समीप से मैंने कभी नहीं देखा था। भुकी हुई अधखुली आँखें, श्वेत दाँतों से कुछ बाहर निकली हुई लाल जीभ — साक्षात् यमराज की मूर्ति मेरे सामने आ गई। हृदय का धड़कन कुछ क्षणों के लिए न मालूम कितनी तीव्र हो गई। बाघ से मुझे सहसा भय नहीं लगता, पर इस आकस्मिक भिड़न्त के लिए मैं तैयार न था। पीछे हटने का समय न था। ऐसे अवसरों पर मनुष्य की सहायक पशु-बुद्धि ही होती है, और प्रेरक कोई

विशेष शक्ति । ज्यों ही बाघ की दृष्टि मुझ पर पड़ी त्यों ही वह गरज कर पिछले पाँवों पर खड़ा हो गया । वह मेरे इतने समीप था कि मैं बन्दूक की नाल से उसे छू सकता था । पहले तो मैं काँपा और यह मालूम होता था कि हृदय नीचे पैरों की ओर भीतर ही भीतर सरक रहा हो । बाद को निराशाजन्य साहस अथवा उद्वेग ने मुझे मृत्यु का सामना करने योग्य बना दिया । मैंने समझ लिया कि मैं फ़ायर करूँ या न करूँ, बाघ मुझे मार ही देगा ।

उधर बाघ ने भी समझा कि यह दो पैरों का प्राणी काली-काली लोहे की वस्तु लिए उसी की जान की खातिर आया है, उसी के खून का प्यासा है । उसके मुँह से ग्रास छीने तो छीने, पर उसकी जान का ग्राहक दो पैरों का यह जीव इस प्रकार अपमान करके उसे मारने आया है । यह नहीं हो सकता । बाघ के पास इस अपमान और धृष्टता का एक ही उत्तर था और वह यह कि वह अपने शत्रु की हस्ती को मिटा दे ।

इधर मैंने ख्याल किया कि बाघ गिरते हुए भी एक चोट करेगा और यदि वह मेरे खून को न भी पी सकेगा तो नीचे खड़ में तो गिरा ही देगा । खड़ में एक मील नीचे गिरने पर मेरे अन्त का पता भी कोई न देगा । यद्यपि मैं बन्दूक का घोड़ा चढ़ाए खड़ा था, मैंने निश्चय कर लिया था कि पहले मैं आक्रमण नहीं करूँगा । यदि बाघ मुझ पर झपटा तो फायर करूँगा और आत्म-रक्षा के लिए जो कुछ बन पड़ेगा, करूँगा ।

एक मिनट तक हम दोनों डटे रहे । बाघ गुर्रा रहा था । उसकी आँखों से ज्वाला-सी निकल रही थी । मैंने न फ़ायर किया और न उसने आक्रमण । वह एक मिनट युग के समान था । ज्यों ही वह मुड़ा मैंने समझा कि बस मेरे ऊपर आया । बन्दूक दाग ही तो दी । जंगल गूँज गया । गोली बाघ के पेट में लगी । मैंने बाघ को गिरते देखा । बन्दूक छोड़ मैं नीचे को दौड़ा पर जिस बात का डर था, वही हुआ । खड़ की ओर मैं फुटबॉल की भाँति लुढ़कने लगा । चालीस-पचास गज लुढ़का हूँगा कि हृदय दहलाने वाली बाघ की गर्जन कान पर मालूम हुई ।

मौत के अनेक बहाने होते हैं और जीवन रक्षा के अनेक सहारे । यदि

जीवन होता है तो मनुष्य पहाड़ की चोटी से गिर के बच जाता है और मरने के लिए तो सीढ़ियों से गिरना ही काफ़ी है। मुझे बचना था। सामने खड्ड की ओर तेज़ी के साथ लुढ़कने के मार्ग में एक चीड़ का वृक्ष था। इतना होश-हवास तो था ही। आठ-दस गज़ ऊपर से ही पेड़ देख लिया। उसी ओर जाने के लिए हाथ-पैर पीटे और उसी पेड़ से जा टकराया। पीछे से बाघ के घिसटने की सरसराहट आ रही थी। पेड़ से ठोकर खा कर रुका और झटपट ऊपर चढ़ गया। इतने ही में विद्युत गति से बाघ भी आ गया और उचक कर उसने अपना पंजा मारा। उसके पंजे में मेरा नेकर आ गया। नेकर फट गया, पर मैं ऊपर निकल ही गया।

बाघ की कमर टूट गई थी। इसीलिए वह पेड़ पर न चढ़ सका। पेड़ पर ऊपर बैठ कर मैंने दम लिया। नीचे बाघ अन्तिम साँसें ले रहा था। एक झटके से उसका दम निकल गया।

रात के नौ बजे लालटेन लेकर कुछ पहाड़ी उस रास्ते से होकर निकले। पेड़ से मैंने आवाज़ दी और बड़ी कठिनाई से मैं पेड़ से उतर कर हाथ पैरों के बल रास्ते पर पहुँचा। बाघ की लाश उठाने का काम सुबह पर छोड़ा गया और बन्दूक की तलाश भी प्रातःकाल पर।

इतने दिनों बाद भी बाघ से उस दिन बाल-बाल बचने की घटना मन में बिल्कुल ताज़ी है। —‘प्रसारिका’ से

अभ्यास के प्रश्न

- १। बाघ के शिकार का यह विवरण अपने शब्दों में दीजिए।
- २। इस लेख से बाघ के रूप और स्वभाव के विषय में आप क्या-क्या जान पाते हैं?
- ३। निम्नलिखित उद्धरणों के प्रसंग की चर्चा करते हुए उनका अर्थ लिखिए :—
 - (अ) पर उस बूढ़े की आँखों में.....खिँचाव था। (पृ० ४२)
 - (आ) जंगल में स्वच्छन्द रूप से.....आ गई। (पृ० ४४)
 - (इ) पहले तो मैं काँपा.....बना दिया। (पृ० ४५)
 - (ई) मौत के अनेक बहाने.....काफ़ी है। (पृ० ४५-४६)

अकबरी लोटा

अन्नपूर्णानन्द

लाला भाऊलाल को खाने-पीने की कमी नहीं थी। काशी के ठठेरी बाज़ार में मकान था। नीचे की दूकानों से एक सौ रुपये मासिक के करीब किराया उतर आता था। कच्चे-बच्चे अभी थे नहीं; सिर्फ़ दो प्राणियों का खर्च था। अच्छा खाते थे, अच्छा पहनते थे। पर ढाई-सौ रुपये तो एक साथ आँख सेंकने के लिये भी न मिलते थे।

इसलिए जब उनकी पत्नी ने एक दिन यकायक ढाई सौ रुपये की माँग पेश की तब उनका जी एक बार जोर से सनसनाया और फिर बैठ गया। जान पड़ा कि कोई बुल्ला है जो बिलाने जा रहा है। उनकी यह दशा देखकर उनकी पत्नी ने कहा—“डरिए मत, आप देने में असमर्थ हों तो मैं अपने भाई से माँग लूँ।”

लाला भाऊलाल इस मीठी मार से तिलमिला उठे। उन्होंने किंचित् रोष के साथ कहा—“अजी हटो ! ढाई सौ रुपये के लिए भाई से भीख माँगोगी ? मुझसे ले लेना।”

“लेकिन मुझे इसी ज़िन्दगी में चाहिये।”

“अजी इसी सप्ताह में ले लेना।”

“सप्ताह से आपका तात्पर्य सात दिन से है या सात वर्ष से ?”

लाला भाऊलाल ने रोब के साथ खड़े होते हुए कहा—“आज से सातवें दिन मुझसे ढाई सौ रुपये ले लेना।”

“मर्द की एक बात !”

“हाँ जी, हाँ ! मर्द की एक बात।”

लेकिन जब चार दिन ज्यों-त्यों में यों ही बीत गये और रुपयों का कोई

प्रबन्ध न हो सका तब उन्हें चिन्ता होने लगी। मदं की एक बात—यह उसका फ़िरा उनके कानों में गूँज-गूँजकर फिर गूँज उठता था।

खैर, एक दिन और बीता। पाँचवें दिन घबराकर उन्होंने पं० बिलवासी मिश्र को अपनी विपद सुनायी। संयोग कुछ ऐसा बिगड़ा था कि बिलवासी जी भी उस समय बिल्कुल खुक्क थे। उन्होंने कहा कि मेरे पास है तो नहीं पर कहीं से माँग-जाँच कर लाने की कोशिश करूँगा, और अगर मिल गया तो कल शाम को तुमसे मकान पर मिलूँगा।

यही शाम आज थी। हफ़्ते का अन्तिम दिन। पं० बिलवासी मिश्र अब भी नहीं आए।

इसी उधेड़-बुन में पड़े हुए लाला भाऊलाल ऊपर छत पर टहल रहे थे। कुछ प्यास मालूम मड़ी। उन्होंने नौकर को आवाज़ दी। नौकर नहीं था। खुद उनको पत्नी पानी लेकर आयीं।

वे पानी तो जरूर लायीं पर गिलास लाना भूल गयी थीं। केवल लोटे में पानी लिये हुए वे प्रकट हुईं। फिर लोटा भी संयोग से वह जो अपनी बेढंगी सूरत के कारण लाला भाऊलाल को सदा से नापसन्द था। था तो नया, साल ही दो साल का बना, पर कुछ ऐसी गढ़न उस लोट की थी कि जैसे उसका बाप डमरू और माँ चिलमची रही हो।

लाला भाऊलाल अपना गुस्सा पी कर पानी पीन लगे। उस समय वे छत की मुँडेर के पास खड़े थे। पर मुश्किल से दो एक घूंट वे पी पाए होंगे कि न जाने कैसे उनका हाथ हिल उठा और लोटा हाथ से छूट पड़ा।

लोटे ने दाहिने देखा न बाँए। वह नीचे गली की ओर चल पड़ा। अपने वेग में उल्का को लजाता हुआ वह आँखों से ओझल हो गया। किसी ज़माने में न्यूटन नाम के किसी खुराफ़ाती ने पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति नाम को एक चीज़ ईजाद की थी। कहना न होगा कि यह सारी शक्ति इस समय इस लोटे के पक्ष में थी। लाला भाऊलाल के काटो तो बदन में खून नहीं। ठठेरी बाज़ार ऐसी चलती हुई गली में, ऊँचे तिमज़िले से, भरे हुए लोटे का गिरना हँसी-खेल नहीं है। यह लोटा न जाने किस

अनधिकारी के खोपड़े पर काशी-वास का सन्देश लेकर पहुँचेगा। कुछ हुआ भी ऐसा ही। गली में जोर का हल्ला उठा। लाला भाऊलाल जब तक दौड़ कर नीचे उतरें तब तक एक भारी भीड़ उनके आँगन में घुस आई।

लाला भाऊलाल ने देखा कि इस भीड़ में प्रधान पात्र एक अंग्रेज है जो नख-शिख तक भींगा हुआ है और जो अपने एक पैर को हाथ से सहलाता हुआ दूसरे पैर पर नाच रहा है। उसी के पास उस अपराधी लोटे को भी देखकर लाला भाऊलालजी ने फौरन दो और दो जोड़कर स्थिति को समझ लिया। पूरा विवरण तो उन्हें पीछे प्राप्त हुआ। हुआ था यह कि गली में गिरने के पूर्व लोटा एक दूकान के सायबान से टकराया। वहाँ टकराकर उस दूकान पर खड़े उस अंग्रेज को उसने सांगोपांग स्नान कराया और फिर उसी के बूट पर जा गिरा। ध्यान देने की बात है कि हिन्दुस्तानी लोटा भी आखिर वहीं गिरा जहाँ हिन्दुस्तानी आदमी गिरा करते थे।

उस अंग्रेज को जब मालूम हुआ कि लाला भाऊलाल ही उस लोटे के मालिक है तब उसने केवल एक काम किया। अपने मुँह को उसने खोलकर खुला ही छोड़ दिया। लाला भाऊलाल को आज ही यह मालूम हुआ कि अंग्रेजी भाषा में गालियों का ऐसा प्रकाण्ड कोष है।

इसी समय पं० बिलवासी मिश्र भीड़ को चीरते हुए आँगन में आते दिखाई पड़े। उन्होंने आते ही पहला काम यह किया कि उस अंग्रेज को छोड़कर और जितने आदमी आँगन में घुस आये थे सबको निकाल बाहर किया। फिर एक कुर्सी आँगन में रखकर उन्होंने साहब से कहा—
“आपके पैर में शायद कुछ चोट आ गयी है। आप आराम से कुर्सी पर बैठ जाइये।”

साहब ने बिलवासीजी से पूछा—“तो अब क्या करना चाहिए?”

“पुलिस में इस मामले की रिपोर्ट कर दीजिए, जिसमें यह आदमी फौरन हिरासत में ले लिया जाय।”

“चलिए।”

“अभी चला। मगर आपकी इजाजत हो तो पहले मैं इस लोटे को

इस आदमी से खरीद लूँ।” “क्यों जी, बेचोगे ? मैं पचास रुपये तक इसका दाम दे सकता हूँ।”

लाला भाऊलाल तो चुप रहे पर साहब ने पूछा—“इस रद्दी लोटे का आप पचास रुपये दाम क्यों दे रहे हैं ?”

“जनाब ! यह एक ऐतिहासिक लोटा जन्म पड़ता है। जान क्या पड़ता है मुझे पूरा विश्वास है। यह वह प्रसिद्ध अकबरी लोटा है, जिसकी तलाश में संसार भर के म्यूजियम परेशान है।”

“यह बात ?”

“जी हाँ जनाब ! सोलहवीं शताब्दी की बात है। बादशाह हुमायूँ शेरशाह से हारकर भागा था और सिंध के रेगिस्तान में मारा-मारा फिर रहा था। एक अवसर पर प्यास से उसकी जान निकल रही थी। उस समय एक ब्राह्मण ने इसी लोटे से पानी पिलाकर उसकी जान बचाई थी। हुमायूँ के बाद अकबर दिल्लीश्वर हुआ तब उसने उस ब्राह्मण का पता लगा कर उससे इस लोटे को ले लिया और इसके बदले में उसे इसी प्रकार के दस सोने के लोटे प्रदान किए। यह लोटा सम्राट् अकबर को बहुत प्यारा था। इसी से इसका नाम अकबरी लोटा पड़ा। वह बराबर इसी से वजू करता था। सन् सत्तावन तक इसके शाही घराने में ही रहने का पता है, पर इसके बाद लापता हो गया। कलकत्ते के म्यूजियम में इसका प्लास्टर का मॉडल रक्खा हुआ है। पता नहीं यह लोटा इस आदमी के पास कैसे आया ! म्यूजियम वालों को पता चले तो फ़ैंसी दाम देकर खरीद ले जायँ।”

इस विवरण को सुनते-सुनते साहब की आँखों पर लोभ और आश्चर्य का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे कौड़ी के आकार से बढ़ कर पकौड़ी के आकार की हो गईं। उसने बिलवासीजी से पूछा—“तो आप इस लोटे को लेकर क्या करिएगा ?”

“मुझे पुरानी और ऐतिहासिक चीजों के संग्रह करने का शौक है।”

“मुझे भी पुरानी और ऐतिहासिक चीजों के संग्रह करने का शौक है।”

“यह सब झोल है। दाम लगाइए, जो अधिक दाम दे वह ले जाय।”

“यही सही । आप उसका पचास रुपया दे रहे थे, मैं सौ देता हूँ ।”

“मैं डेढ़ सौ देता हूँ ।”

“मैं दो सौ देता हूँ ।”

“अजी मैं ढाई सौ देता हूँ ।” यह कहकर बिलवासीजी ने ढाई सौ के नोट लाला भाऊलाल के आगे फेंक दिए । साहब को भी अब ताव आ गया । उसने कहा—“आप ढाई सौ देते हैं तो मैं पाँच सौ देता हूँ । अब चलिए ?”

बिलवासीजी अफ़सोस के साथ अपने रुपये उठाने लगे, मानो अपनी आशाओं की लाश उठा रहे हों । साहब की ओर देखकर उन्होंने कहा—“लोटा आपका हुआ, ले जाइए ! मेरे पास ढाई सौ से अधिक है नहीं ।”

यह सुनना था कि साहब के चेहरे पर प्रसन्नता की कूची फिर गई । उसने झपटकर लोटा उठा लिया और बोला—“अब मैं हँसता हुआ अपने देश लौटूँगा । मेजर डगलस की डींग सुनते-सुनते मेरे कान पक गये थे ।”

“मेजर डगलस कौन हैं ?”

“मेजर डगलस मेरे पड़ोसी हैं । पुरानी चीज़ों के संग्रह करने में मेरी उनकी होड़ रहती है । गत वर्ष वे हिन्दुस्तान आए थे और यहाँ से जहाँगीरी अण्डा ले गये थे ।”

“जहाँगीरी अण्डा ?”

“जी हाँ, जहाँगीरी अण्डा । मेजर डगलस ने समझ रक्खा था कि हिन्दुस्तान से वे ही ऐसी चीज़ ले जा सकते हैं ।”

“पर जहाँगीरी अण्डा है क्या ?”

“आप जानते होंगे कि एक कबूतर ने नूरजहाँ से जहाँगीर का प्रेम कराया था । जहाँगीर के पूछने पर कि मेरा एक कबूतर तुमने कैसे उड़ जाने दिया, नूरजहाँ ने उसके दूसरे कबूतर को भी उड़ाकर बताया था कि ऐसे । उसके इस भोलेपन पर जहाँगीर सौ जान से निछावर हो गया । पर कबूतर का एहसान वह नहीं भूला । उसके एक अण्डे को उसने बड़े

यत्न से रख छोड़ा। एक बिल्लौर की हाँड़ी में वह उसके सामने सदा टँगा रहता था। बाद में वही अण्डा जहाँगीरी अण्डा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसी को मेजर डगलस ने परसाल दिल्ली में एक मुसलमान सज्जन से तीन सौ रुपये में खरीदा।”

“यह बात !”

“हाँ, पर अब वे मेरे आगे दून की नहीं ले सकते। मेरा अकबरी लोटा उनके जहाँगीरी अण्डे से भी एक पुस्त पुराना है।”

साहब ने लाला भाऊलाल को पाँच सौ रुपये देकर अपनी राह ली। लाला भाऊलाल का चेहरा इस समय देखते बनता था। जान पड़ता था कि मुँह पर छः दिन की बढ़ी हुई दाढ़ी का एक-एक बाल मारे प्रसन्नता के लहरा रहा है। उन्होंने पूछा—“बिलवासीजी! आप मेरे लिये ढाई सौ रुपया घर से लेकर चले थे। पर आपको मिला कहाँ से? आपके पास तो था नहीं।”

“इस भेद को मेरे सिवाय मेरा ईश्वर ही जानता है। आप उसी से पूछ लीजिए। मैं नहीं बताऊँगा।”

“पर आप चले कहाँ? अभी मुझे आपसे काम है।”

“अच्छा, पहले अपने पाँच सौ रुपये गिनकर सहेज लीजिए।”

रुपया अगर अपना हो तो उसे सहेजना एक ऐसा सुखद और सम्मोहक कार्य है कि मनुष्य उस समय सहज में ही तन्मयता प्राप्त कर लेता है। लाला भाऊलाल ने अपना कार्य समाप्त करके ऊपर देखा। पर बिलवासीजी इस बीच अन्तर्धान हो गए थे।

उस दिन रात्रि में बिलवासीजी को देर तक नींद नहीं आई। वे चादर लपेटे चारपाई पर पड़े रहे। एक बजे वे उठे। धीरे से, बहुत धीरे से, अपनी सोई हुई पत्नी के गले से उन्होंने सोने की वह सिकड़ी निकाली जिसमें एक ताली बँधी हुई थी। फिर उसके कमरे में जाकर उन्होंने उस ताली से उसकी सन्दूक खोली। उसमें ढाई सौ के नोट ज्यों के त्यों रखकर उन्होंने उसे बन्द कर दिया। फिर दबे पाँव लौटकर ताली को उन्होंने

पूर्ववत् अपनी पत्नी के गले में डाल दिया। इसके बाद उन्होंने हँसकर अँगड़ाई ली, अँगड़ाई लेकर लेट रहे, और लेट कर मर गये।

दूसरे दिन सुबह आठ बजे तक वे मरे रहे।

अभ्यास के प्रश्न

- १। लाला भाऊलाल की समस्या किस प्रकार हल हुई ?
- २। इस परिहासात्मक कहानी की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
- ३। इस कथा में पुरानी और तथाकथित ऐतिहासिक चीजें संग्रह करनेवालों पर कौन-सा व्यंग्य किया गया है ?
- ४। निम्नलिखित मुहावरों का वाक्यों में प्रयोग कीजिए :—
आँख सेंकना, उधड़-बुन, काटो तो खून नहीं, दून की लेना, कान पकना।
- ५। निम्न लिखित उद्धरणों में छिपे हुए व्यंग पर प्रकाश डालिए :—
(क) किसी ज़माने में न्यूटन.....पक्ष में थी। (पृ० ४८)
(ख) ध्यान देने की बात है.....गिरते हैं। (पृ० ४९)
(ग) रुपया अगर अपना हो.....प्राप्त कर लेता है। (पृ० ५२)

श्रमदेवता की उपासना

विनोबा

प्राचीन काल में हमारे यहाँ कला कम नहीं थी । लेकिन पूर्वजों से मिलने-वाली कला एक बात है और उसमें दिन-प्रति-दिन प्रगति करना दूसरी बात । आज भी काफी प्राचीन कारीगरी मौजूद है । उसको देखकर हमें आश्चर्य होता है । अपनी प्राचीन कला को देखकर हमें आश्चर्य होता है, यही सबसे बड़ा आश्चर्य है । आश्चर्य करने का प्रसंग हमारे सामने क्यों आना चाहिए ? उन्हीं पूर्वजों की तो हम संतान हैं न ? तब तो उनसे बढ़कर हमारी कला होनी चाहिए । लेकिन आज आश्चर्य करने के सिवा हमारे हाथ में और कुछ नहीं रहा । यह कैसे हुआ ? कारीगरों में ज्ञान का अभाव और हममें परिश्रम-प्रतिष्ठा का अभाव ही इसका कारण है ।

प्राचीन काल में ब्राह्मण और शूद्र की समान प्रतिष्ठा थी । जो ब्राह्मण था वह विचार-प्रवर्तक, तत्वज्ञानी और तपश्चर्या करनेवाला था । जो किसान था वह ईमानदारी से अपनी मजदूरी करता था । प्रातःकाल उठकर भगवान् का स्मरण करके सूर्यनारायण के उदय के साथ खेत में काम करने लग जाता था और सायंकाल सूर्य भगवान् जब अपनी किरणों को समेट लेते तब उनको नमस्कार करके घर वापस आता था । ब्राह्मण में और इस किसान में कुछ भी सामाजिक, आर्थिक या नैतिक भेद नहीं माना जाता था ।

हम जानते हैं कि पुराने ब्राह्मण “उदर-पात्र” होते थे, यानी उतना ही संचय करते थे जितना कि पेट में अँटता था । यहाँ तक उनका अपरिग्रही आचरण था । आज की भाषा में कहना हो तो ज्यादा-से-ज्यादा काम देते थे और बदले में कम-से-कम वेतन लेते थे । यह बात प्राचीन इतिहास से हम जान सकते हैं । लेकिन बाद में ऊँच-नीच का भेद पैदा हो गया । कम-से-कम मज-

दूरी करनेवाला ऊँची श्रेणी का और हर तरह की मजदूरी करनेवाला नीची श्रेणी का माना गया। उसकी योग्यता कम, उसे खाने के लिए कम, और उसकी प्रगति, ज्ञान प्राप्त करने की व्यवस्था भी कम।

प्राचीन काल में न्यायशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, वेदांतशास्त्र इत्यादि शास्त्रों के अध्ययन का जिक्र हम सुनते हैं। गणितशास्त्र, वैद्यकशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र इत्यादि शास्त्रों की पाठशालाओं का भी जिक्र आ जाता है। लेकिन उद्योगशाला का उल्लेख कहीं नहीं आया है। इसका कारण यह है कि हम वर्णाश्रम धर्म माननेवाले थे, इसलिए हरेक जाति का धंधा उस जाति के लोगों के घर-घर में चलता था और इस तरह हरेक घर उद्योगशाला था। कुम्हार हो या बढ़ई, उसके घर में बच्चों को वचपन ही से उस धंधे की शिक्षा अपने पिता से मिल जाती थी। उसके लिए अलग प्रबंध करने की आवश्यकता न थी। लेकिन आगे क्या हुआ कि एक ओर हमने यह मान लिया कि पिता का ही धंधा पुत्र को करना चाहिए, और दूसरी ओर बाहर से आया हुआ माल सस्ता मिलने लगा, इसलिए उसी को खरीदने लगे। मुझे कभी-कभी सनातनी भाइयों से बातचीत करने का मौका मिल जाता है। मैं उनसे कहता हूँ कि वर्णाश्रम-धर्म लुप्त हो रहा है। इसका अगर आपको दुःख है तो कम-से-कम स्वदेशी धर्म का तो पालन कीजिए। बुनकर से तो मैं कहूँगा कि अपने बाप का धंधा करना तुम्हारा धर्म है, लेकिन उसका बनाया हुआ कपड़ा मैं नहीं लूँगा तो वर्णाश्रम-धर्म कैसे जिंदा रह सकता है? हमारी इस वृत्ति से उद्योग गया और उद्योग के साथ उद्योगशाला भी गई। इसका कारण यह है कि हमने शरीर-श्रम को नीच मान लिया। जो आदमी कम-से-कम परिश्रम करता है वही आज सबसे अधिक बुद्धिमान और नीतिमान माना जाता है।

आज ही सुबह बातें हो रही थीं। किसी ने कहा, “अब विनोबाजी किसान-जैसे दीखते हैं”, तो दूसरे ने कहा, “लेकिन जबतक उनकी धोती सफ़ेद है तबतक वे पूरे किसान नहीं हैं।” इस कथन में एक दंश था। खेती और स्वच्छ धोती की अदायत है, इस धारणा में दंश है। जो अपने को ऊपर-

की श्रेणीवाले समझते हैं उनको यह अभिमान होता है कि हम बड़े साफ रहते हैं, हमारे कपड़े बिलकुल सफेद बगले के पर जैसे होते हैं। लेकिन उनका यह सफाई का अभिमान मिथ्या और कृत्रिम है। उनके शरीर की डाक्टरों जाँच—मैं मानसिक जाँच की तो बात ही छोड़ देता हूँ—की जाय और हमारे परिश्रम करनेवाले मजदूरों के शरीर की भी जाँच की जाय और दोनों परीक्षाओं की रिपोर्ट डॉक्टर पेश करे और कह दे कि कौन ज्यादा साफ है ! हम लोटा मलते हैं तो बाहर से। उसमें अपना मुँह देख लीजिए। लेकिन अंदर से हमें मलने की जरूरत ही नहीं जान पड़ती। हमारे लिए अंदर की कोमल ही नहीं होती। हमारी स्वच्छता केवल बाहरी और दिखावटी होती है। हमें शंका होती है कि खेत की मिट्टी में काम करनेवाला किसान कैसे साफ रह सकता है। लेकिन मिट्टी में या खेत में काम करनेवाले किसान के कपड़े पर जो मिट्टी का रंग लगता है वह मैल नहीं है। सफेद कमीज के बदले किसी ने लाल कमीज पहन लिया तो उसे रंगीन कपड़ा समझते हैं। वैसे ही मिट्टी का भी एक प्रकार का रंग होता है। रंग और मैल में काफ़ी फ़र्क है। मैल में जन्तु होते हैं, पसीना होता है, उसकी बदबू आती है। मृत्तिका तो 'पुण्यगंध' होती है। गीता में लिखा है, "पुण्यगंधः पृथिव्यांच"। मिट्टी का शरीर है, मिट्टी में ही मिलनेवाला है, उसी मिट्टी का रंग किसान के कपड़े पर है। तब वह मैल कैसे है ? लेकिन हमको तो बिलकुल सफेद, कपास जितना सफेद होता है उससे भी बढ़कर सफेद, कपड़े पहिनने की आदत पड़ गई है। मानो 'व्हाइट वाश' ही किया है। उसे हम साफ़ कहते हैं। हमारी भाषा ही विकृत हो गई है।

हममें से कोई गीता-पाठ, भजन और जप करता है या कोई उपनिषद् कंठ कर लेता है तो वह बड़ा भारी महात्मा बन जाता है। जप, संध्या, पूजा-पाठ ही धर्म माना जाता है। लेकिन दया, सत्य, परिश्रम में हमारी श्रद्धा नहीं होती। जो धर्म बेकार, निकम्मा, अनुत्पादक हो उसी को हम सच्चा धर्म मानते हैं। जिससे पैदावार होती है, वह भला धर्म कैसे हो सकता है ? भक्ति और उत्पत्ति का भी कहीं मेल हो सकता है ?

हिन्दुस्तान की संस्कृति इस हद तक गिर गई, इसी कारण से बाहर के लोगों ने इन ऊपरी लोगों को हटाकर हिन्दुस्तान को जीत लिया। बाहर के लोगों ने आक्रमण क्यों किया? परिश्रम से छुटकारा पाने के लिए। इसीलिए उन्होंने बड़े-बड़े यंत्रों की खोज की। शरीर-श्रम कम-से-कम करके बचे हुए समय में मौज और आनन्द करने की उनकी दृष्टि है। इसका नतीजा आज यह हुआ है कि हरेक राष्ट्र अब यंत्रों का उपयोग करने लग गया है। पहली मशीन जिसने निकाली उसकी हुकूमत तभी तक चली जय तक दूसरों के पास मशीन नहीं थी। मशीन से सम्पत्ति और मुख तभी तक मिला जबतक दूसरों ने मशीन का उपयोग नहीं किया था। हरेक के पास मशीन आ जाने पर स्पर्धा शुरू हो गई।

आज यूरोप एक बड़ा 'चिड़ियाखाना' ही बन गया है। जानवरों की तरह हरेक अपने अलग-अलग पिंजड़े में पड़ा है। और पड़ा-पड़ा सोच रहा है कि एक-दूसरे को कैसे खा जाऊँ; क्योंकि वह अपने हाथों से कोई काम करना नहीं चाहता। हमारे सुधारक लोग कहते हैं—“हाथों से काम करना बड़ा भारी कष्ट है, उससे किसी-न-किसी तरीके से छूट सके तो बड़ा अच्छा हो। अगर दो घंटे काम करके पेट भर सके तो तीन घंटे क्यों करे? अगर आठ घंटे काम करेंगे तो कब साहित्य पढ़ेंगे और कब संगीत होगा? कला के लिए वक्त ही नहीं बचता।”

भर्तृहरि ने लिखा है—“साहित्यसंगीत कलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः”—जो साहित्य-संगीत-कला से विहीन है वह बिना पुच्छविषाण (पूँछ और सींग) का पशु है। मैं कहता हूँ—“ठीक है, साहित्य-संगीत-कला-विहीन अगर पुच्छविषाणहीन पशु है, तो साहित्य-संगीत-कलावाला पुच्छविषाणवाला पशु है।” भर्तृहरि के लिखने का मतलब क्या था यह तो मैं नहीं जानता, लेकिन उसपर से मुझे यह अर्थ सूझ गया। दूसरे एक पंडित ने लिखा है—“काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धोमताम्”—बुद्धिमान लोगों का समय काव्य-शास्त्र-विनोद में कटता है। मानो उनका समय कटता ही नहीं, मानो वह उन्हें खाने के लिए उनके दरवाजे पर खड़ा है।

काल तो जाने ही वाला है। उसके जाने की चिन्ता क्यों करते हो ? वह सार्थक कैसे होगा यह देखो। शरीर-श्रम को दुःख क्यों मान लिया है, यही मेरी समझ में नहीं आता। आनन्द और सुख का जो साधन है उसी को कष्ट माना जाता है।

एक अमेरिकन श्रीमान् से किसी ने पूछा, “दुनिया में सबसे अधिक धनवान् कौन हैं ?” उसने जवाब दिया—“जिसकी पाचनेन्द्रिय अच्छी है, वह।” उसका कहना ठीक है। सम्पत्ति खूब पड़ी है। लेकिन दूध भी हजम करने की ताकत जिसमें नहीं है उसका उस सम्पत्ति से क्या लाभ ? और पाचनेन्द्रिय कैसे मजबूत होती है ? काव्यशास्त्र से तो “कालो गच्छति”। उससे पाचनेन्द्रिय थोड़े ही मजबूत होनेवाली है। पाचनेन्द्रिय तो व्यायाम से, परिश्रम से मजबूत होती है। लेकिन आजकल व्यायाम भी पन्द्रह मिनट का निकला है। थोड़े ही समय में एकदम व्यायाम करने की जो पद्धति है उससे स्नायु (मसल्स) बनते हैं, नसें नहीं बनती। और अमरवेल जिस प्रकार पेड़ को खा जाती है, वैसे ही स्नायु आरोग्य का खा जाते हैं। नसें आरोग्य को बढ़ाती हैं। धीरे-धीरे और सतत जो व्यायाम मिलता है उससे नसें बनती हैं और पाचनेन्द्रिय मजबूत होती है। चौबीस घंटे हम लगातार हवा लेते हैं ; लेकिन अगर हम यह सोचने लगें कि दिनभर हवा लेने की यह तकलीफ क्यों उठाएँ, दो घंटे में दो दिनभर की पूरी हवा मिल जाय तो अच्छा हो, तो यही कहना पड़ेगा कि हमारी संस्कृति आखिरी दर्जे तक पहुँच गई है। हमारा दिमाग इसी तरह से चलता है। पढ़ते-पढ़ते आँखें बिगड़ जाती हैं तो हम ऐनक लगा लेते हैं। लेकिन आँखें न बिगड़ें इसका कोई तरीका नहीं निकालते।

हमारा स्वास्थ्य बिगड़ गया है, भेदभाव बढ़ गया है और हम पर बाहर के लोगों का आक्रमण हुआ है—इस सबका कारण यही है कि हमने परिश्रम छोड़ दिया है।

यह तो हुआ जीवन की दृष्टि से। अब शिक्षण की दृष्टि से परिश्रम का विचार करना है।

शरीर के साथ मन का निकट सम्बन्ध है। आजकल मनोविज्ञान (मानस-शास्त्र) का अध्ययन करनेवाले हमें बहुत दिखाई देते हैं। पर बेचारों को खुद अपना काम-क्रोध जीतने का तरीका मालूम नहीं होता।

शरीर-वृद्धि के साथ मनोवृद्धि होती है। लड़कों की मनोवृद्धि करनी है, उनको शिक्षा देनी है, तो शारीरिक श्रम कराके उनकी भूख जाग्रत करनी चाहिए। परिश्रम से उनकी भूख बढ़ेगी। जिसको दिनभर में तीन बार अच्छी भूख लगती है उसे अधिक धार्मिक समझना चाहिए। भूख लगना जिंदा मनुष्य का धर्म है। जिसे दिनभर में एक ही दफा भूख लगती है, संभवतः उसका जीवन अनीतिमय होगा। भूख तो भगवान् का संदेश है। भूख न होती तो दुनिया विलकुल अनीतिमान् और अधार्मिक बन जाती। फिर नैतिक प्रेरणा ही हमारे अंदर न होती। किसी को भी भूख-प्यास अगर न लगती तो हमें अतिथि-सत्कार का मौका कैसे मिलता? सामने यह खम्भा खड़ा है। इसका हम क्या सत्कार करेंगे? इसको न भूख है, न प्यास। हमें भूख लगती है, इसलिए हमारे पास धर्म है।

एक आदमी ने मुझसे कहा, 'गांधीजी ने पीसना, कातना, जूते बनाना वगैरह काम खुद करके परिश्रम की प्रतिष्ठा बढ़ा दी।' मैंने कहा, "मैं ऐसा नहीं मानता। परिश्रम की प्रतिष्ठा किसी महात्मा ने नहीं बढ़ाई। परिश्रम की निज की ही प्रतिष्ठा इतनी है कि उसने महात्मा को प्रतिष्ठा दी।" आज हिन्दुस्तान में गोपाल-कृष्ण की जो इतनी प्रतिष्ठा है वह उनके गो-पालन ने उन्हे दी है। उद्योग हमारा गुरुदेव है।

दुनिया की हरेक चीज हमको शिक्षा देती है। एक दिन मैं धूप में घूम रहा था। चारों तरफ़ बड़े-बड़े हरे वृक्ष दिखाई देते थे। मैं सोचने लगा कि ऊपर से इतनी कड़ी धूप पड़ रही है, फिर भी ये वृक्ष हरे कैसे हैं? वे वृक्ष मेरे गुरु बन गये। मेरी समझ में आ गया कि जो वृक्ष ऊपर से इतने हरे-भरे दीखते हैं उनकी जड़ें ज़मीन में गहरी पहुँची हैं और वहाँ से उन्हें पानी मिल रहा है। इस तरह अन्दर से पानी और ऊपर से धूप, दोनों की कृपा से यह सुन्दर हरा रंग उन्हें मिला है। इसी तरह हमें अंदर से भक्ति का पानी

और बाहर से तपश्चर्या की धूप मिले तो हम भी पेड़ों के जैसे हरे-भरे हो जायें। हम ज्ञान की दृष्टि से परिश्रम को नहीं देखते, इसलिए उसमें तकलीफ़ मालूम होती है। ऐसे लोगों के लिए भगवान् का यह शाप है कि उनको आरोग्य और ज्ञान कभी मिलने ही वाला नहीं।

रोटी बनाने का काम माता करती है। माता का हम गौरव करते हैं। लेकिन माता का असली माता-पन उस रसोई में ही है। अच्छी-से-अच्छी रसोई बनाना, बच्चों को प्रेम से खिलाना—इसमें कितना ज्ञान और प्रेम-भावना भरी है? रसोई का काम यदि माता के हाथों से ले लिया जाय तो उसका प्रेम-साधन ही चला जायगा। प्रेम-भाव प्रकट करने का यह मौका कोई माता छोड़ने के लिए तैयार न होगी। उसी के सहारे तो वह जिन्दा रहती है। मेरे कहने का मतलब कोई यह न समझे कि किसी-न-किसी बहाने में स्त्रियों-पर रोटी पकाने का बोझ लादना चाहता हूँ। मैं तो उनका बोझ हलका करना चाहता हूँ। इसीलिए हमने आश्रम में रसोई का काम मुख्यतः पुरुषों से ही कराया है। मेरा मतलब इतना ही था कि जैसे रसोई का काम माता छोड़ देगी तो उसका ज्ञान-साधन और प्रेम-साधन चला जायगा, वैसे ही यदि हम परिश्रम से घृणा करेंगे तो ज्ञान-साधन ही खो बैठेंगे। इसलिए मुख्य दृष्टि यह है कि शरीर-श्रम की महिमा को हम समझें। हमारा ज्ञान किताबी होता है। हम उसे व्यवहार में नहीं लाते। जबतक हम प्रत्यक्ष नहीं उद्योग करते तबतक उसमें प्रगति और वृद्धि नहीं होती।

अभ्यास के प्रश्न

- १। जीवन और शिक्षण दोनों की दृष्टि से श्रम का महत्त्व स्पष्ट कीजिए।
- २। शरीर-श्रम से बचने का क्या परिणाम होता है? उसका मनुष्य की देह, मन और सभ्यता पर क्या प्रभाव पड़ता है?
- ३। 'शिक्षा का श्रम से संबंध'—इस विषय पर एक छोटा सा निबंध लिखिए।

- ४। विनोबा की शैली की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
- ५। निम्नलिखित वाक्यों के भीतरी अर्थ को स्पष्ट कीजिए :—
- (क) रंग और मैल में काफ़ी फर्क है। (पृ० ५६)
 - (ख) हमें अन्दर से भक्ति का पानी और बाहर से तपश्चर्या को धूप मिले तो हम भी पेड़ों जैसे हरे-भरे हो जाएँ। (पृ० ५९)
 - (ग) भूख तो भगवान का संदेश है। (पृ० ५९)
 - (घ) शरीर-वृद्धि के साथ मनोवृद्धि होती है। (पृ० ५९)

पंचाचूली शिखर पर

विनोदबिहारीलाल भटनाग

शेवत हिम-मंडित पर्वत-शिखरों की दूर तक फैली हुई उस लम्बी कतार पर नजर पड़ते ही एक अजीब-से आनंद की लहर हमारे तन-बदन में दौड़ गयी। लगा—‘सिंगाली’ की सफेदी जैसे हमारे ही लिए खुशी का एक नया पैगाम लेकर आई है। घर छोड़े हफ्ते भर के करीब हो चुका था। मार्ग की कठिनाइयाँ भेलते हुए थकावट से चूर, आज पहली बार हम ऐसा अनुभव कर रहे थे कि किसी अज्ञात शक्ति ने नव-स्फूर्ति और उत्साह की एक अदम्य लहर हमारे शरीर में फूँक दी हो—हमारी थकान निमिष-मात्र में गायब हो गई।

दल में हम कुल चार साथी थे—श्री प्राणनाथ निकोर, श्री के. एम. राय, श्री बी. रामानाथन तथा स्वयं मैं। और, हमारा लक्ष्य था—पंचाचूली! पंचाचूली अलमोड़ा के पश्चिमोत्तर में १५० मील दूर, कुमायूँ जिला अन्तर्गत, पाँच पर्वत-शिखरों की एक शृंखला है।

हमारा दल इस अभियान पर जानेवाले भारतीय पर्वतारोहियों का दूसरा दल था। २ मई, १९५३ को हम अपने-अपने घरों से निकले थे और जिस दिन हम सिंगाली के लिए रवाना हुए थे, वह मई की छः तारीख थी।

१५ हजार फुट की ऊँचाई पर पहुँच कर हमने वहाँ अपना ‘बेस कैम्प’ स्थापित किया। यहाँ से अब दो टुकड़ियों में विभक्त होकर हमें आगे बढ़ना था। हमारे दल के नेता श्री निकोर ने पहली टुकड़ी के साथ जाना तय किया और १६ मई को अपने साथ ४ शेरपा तथा ३ कुली लेकर वे ‘बेस कैम्प’ से आगे की ओर चल दिए। मुझे और अन्य साथियों को दूसरी टुकड़ी के साथ आगे बढ़ना था।

“मेरी रग-रग में एक अपूर्व उत्साह की लहर समाई हुई थी और दुर्गम रास्ते की कठिनाइयों की ओर बिना कोई ध्यान दिए मैं आगे बढ़ता चला जा रहा था”—श्री निकोर ने बाद में हमें बताया,—“लगभग १७ हजार फुट की ऊँचाई पर मैंने अपना पहला कैम्प डाला।

.....कैम्प तैयार करते-करते काफ़ी समय लग गया। एक तो पहाड़ की चढ़ाई, दूसरे कैम्प लगाने की मेहनत—थकावट से सब चूर हो रहे थे। अतः आज की रात हमने वहीं काटने की सोची।”

“ताशी, पुढिंडू, पद्म और लक्ष्मण (शरपाओं तथा कुलियों के नाम) को मैं कुछ आवश्यक सामान लान के लिए पहले ही ‘बेस कैम्प’ वापस भेज चुका था इसलिए बाकी के तीन व्यक्तियों—अजीबा, माघ और छोंग—को साथ लेकर दूसरी सुबह मैं आगे की ओर बढ़ा। एक बर्फीले दरिया के निचले भाग में पहुँचकर हमें क्षण भर के लिए रुक जाना पड़ा। सामने ही सह्रत बर्फ की एक चादर-सी बिछी हुई थी और हमें इसे पार करते हुए ‘दरिया’ के किनारे-किनारे सीधे ऊपर की ओर बढ़ना था। ऊपर से पत्थर के भारी-भारी ढोके बड़े वेग के गर्जन के साथ नीचे की ओर लुढ़कते चले आ रहे थे। आगे बढ़ना मानो मौत का ही सामना करना था; पर इसके सिवा हमारे पास चारा भी क्या था! परमात्मा का नाम लेकर हमने उस मार्ग पर कदम बढ़ाया और किसी प्रकार सुरक्षित रूप से उसे पार भी कर गए। अब हमें छोटे-छोटे बर्फीले जलप्रपातों पर से गुजरना पड़ा और यह सिलसिला समाप्त भी नहीं हो पाया था कि हमें पंचाचूली पर्वत-शिखर की झलक दिखाई पड़ी। लेकिन चंद सेकंडों बाद ही वह हमारी दृष्टि से पुनः ओझल हो चुका था।”

“अचानक ही सरदी ने अपनी चादर फैलानी आरम्भ कर दी। आकाश का रँग बदल गया और रूई के बड़े-बड़े गट्ठरों की तरह बर्फ के टुकड़े हमारे ऊपर गिरने लगे—कोहरे और धुंध की एक मोटी चादर ने हमें पूरी तरह से ढक लिया। काफ़ी मुश्किलों से रास्ता खोजते हुए हम आगे बढ़े और १९ हजार फुट की ऊँचाई पर जा पहुँचे। अपना दूसरा कैम्प

हमें यहीं डालना था, अतः किसी प्रकार थोड़ी-सी जगह साफ़ कर हमने इस काम को भी पूरा कर डाला और शहद, बिस्कुट तथा गर्म चाय के चंद घूंटों से अपने भूखे पेटों को तसल्ली दी ! ”

“इस वक़्त दिन के ढाई बज रहे थे । लगभग शाम को जाकर बर्फ़ का गिरना बंद हुआ, पर अब तक तो काफ़ी देर हो चुकी थी । हमारे कुली, जो कपड़े तथा अन्य आवश्यक सामान लेकर आ रहे थे, अभी बहुत पीछे थे । एक बड़े-से प्रपात के पास पहुँचते ही उन्हें एक आकस्मिक दुर्घटना का सामना करना पड़ा । ऊपर से लुढ़क कर आते हुए पत्थर के एक भारी ढोके से पद्मसिंह को बचाने के प्रयास में ताशी स्वयं उसकी चपेट में आ गया । उसकी दाहिनी जाँघ में जोरों की चोट लगी और एक चीख मार कर वह वहीं बैठ गया । बड़ी-बड़ी कठिनाइयों से ये लोग दूसरे कैम्प पर पहुँचे ।

“अगले दो दिनों तक ख़ूब जोरों से बर्फ़ गिरती रही । यहाँ तक कि हमारा कैम्प भी २४ इंच तक बर्फ़ में ढक गया—कहीं आना-जाना भी मुश्किल था । तीसरे दिन शाम की ढलती बेलामें बर्फ़ की यह बारिश बंद हुई और मैं अजीबा को साथ लेकर अपने अगले कैम्प के लिए उपयुक्त स्थान की खोज में चल पड़ा । ताशी के अतिरिक्त, जो कि बुरी तरह घायल था, अन्य सभी कुली और शेरपा हमारा बाकी सामान लाने के लिए ‘बेस’ कैम्प की ओर लौट चुके थे ।”

“यहाँ से हमें पंचाचूली का ऊपरी भाग स्पष्ट दिखलायी पड़ रहा था, पर उसके नीचे का हिस्सा सामने कि अन्य पहाड़ियों के पथरीले परदे की ओट में छिपा था । सामने दो ढलानें थीं—एक उत्तर की ओर, दूसरी दक्षिण-पश्चिम में । अजीबा ने चोटी पर पहुँचने के लिए उत्तरी ढलान से आगे बढ़ने की सलाह दी, क्योंकि यह ढलान कुछ कम नुकीली थी । पर यह रास्ता काफ़ी लम्बा था । दक्षिण-पश्चिम वाली ढलान लगभग २१ हजार ५ सौ फुट तक बिल्कुल सीधी खड़ी थी और फिर बाद में थोड़ी चढ़ाई पार करनी पड़ती थी । यह वही मार्ग था, जिस पर होकर गत

वर्ष में पंचाचूली-अभियान के लिए आया था और मौसम खराब होने के कारण बिना चोटी तक पहुँचे लौट गया था। इन दो ढलानों के अलावा एक तीसरी ढलान और थी, पर वह इतनी नुकीली तथा सीधी थी कि उधर से आगे बढ़ने का प्रयास करना निरर्थक ही था। यह निश्चित था कि सामान का बोझ लेकर कोई भी कुली इस राह से आगे नहीं बढ़ सकेगा। निदान, हम लोग कोई और मार्ग ढूँढ़ निकालने के लिए आगे बढ़े, लेकिन तभी बर्फ के नीचे छिपी हुई एक दरार के मुँह पर मेरा पाँव पड़ गया और दूसरे ही क्षण मैं दरार में था। सौभाग्यवश मुझे कोई अधिक चोट नहीं आई। थोड़े ही प्रयास के बाद मैं बाहर निकल आया। इस समय तक चारों ओर घने और काले बादल छा चुके थे—आकाश का रंग पुनः खराब होने लगा था, अतएव किसी निश्चित मार्ग को खोजे बिना, सब कुछ अगले दिन के लिए छोड़कर, हमें दूसरे कैम्प में वापस आ जाना पड़ा।”

“अजीबा, छोंग और उस कुली को लेकर मैंने दूसरे दिन अपनी यात्रा आरम्भ कर दी। हम चारों ने अपनी-अपनी कमर के इर्द-गिर्द एक लम्बी-सी मजबूत रस्सी बाँध रखी थी। मैं, छोंग और अजीबा आगे-आगे थे जब कि माघ और पद्मसिंह हमसे काफी पीछे भोजन-सामग्री के बोझ से लदे आहिस्ता-आहिस्ता चले आ रहे थे। ठीक ग्यारह बज कर तीस मिनट पर हम बर्फ के एक बड़े मैदान में जा पहुँचे, जो चारों ओर से पहाड़ियों से घिरा हुआ था। तीसरे कैम्प के लिए अजीबा ने यही स्थान चुना था।”

“कैम्प लगाने का काम समाप्त कर हम माघ और पद्मसिंह के आने की प्रतीक्षा करने लगे। लेकिन, जब काफी देर हो गयी, तो छोंग को उनकी खोज में हमने दूसरे कैम्प की ओर भेजा। थोड़ी देर बाद ही वह घबड़ाया हुआ लौटकर आया और उसने सूचना दी कि वे लोग यहाँ से कुछ दूर पर बैठे दिखायी पड़ रहे हैं, भोजन की चीजें बिखरी पड़ी हैं। सुनते ही मैं चिंतित हो उठा और उसी दम पुडिंडू को साथ लेकर छोंग के बतलाए स्थान की ओर रवाना हो गया।”—

“माघ अचानक ही किसी बीमारी का शिकार हो गया था। उसके मुँह तथा नाक से काफी खून गिर रहा था और वह रह-रह कर पागलों की भाँति बड़बड़ा उठता था—‘पंचाचूली का देवता मेरे ऊपर नाराज हो गया है। वह देखो! कितनी क्रोध-भरी दृष्टि से वह मेरी ओर देख रहा है! बस अब मुझे मौत के मुँह से कोई नहीं बचा सकता।” उसके पैर तथा छाती में अचानक ही भयंकर रूप से दर्द होने लगा था और वह बुरी तरह कराह रहा था। जिस समय मैं उसके पास पहुँचा, वह दूसरे कैम्प से कोई मील-डेढ़ मील की दूरी पर बर्फ में आधा धँसा पड़ा था। किसी तरह सहारा देकर आहिस्ता-आहिस्ता हम उसे दूसरे कैम्प में ले आए। सारी रात माघ दर्द से छटपटाता रहा और हमने आँखों-ही-आँखों में रात काट दी।”

“२३ तारीख की रात बड़ी भयानक थी। माघ की बीमारी तो घबड़ा-हट पैदा कर ही रही थी, ऊपर से ताशी का, जो अब तक चंगा न हुआ था, दर्द से चिल्ला उठना और भी परेशानी का कारण बन रहा था। इधर अजीबा के वापस जाने के दिन करीब आते जा रहे थे। पहली जून को उसे एक दूसरे अभियान पर जाना था, अतः २४ मई यानी अगली सुबह तक उसका दूसरे कैम्प पर लौट आना जरूरी था। उससे अलग होने का गम मुझे बुरी तरह सता रहा था, क्योंकि मैंने उसे हमेशा अपने सगे भाई के बराबर समझा था। इन्हीं सब परेशानियों में यह रात भी आँखों-ही-आँखों में गुजार देनी पड़ी।”

“२४ तारीख को सुबह दस बजे अजीबा छोंग को साथ लिये दूसरे कैम्प पर आ पहुँचा। उसने मुझे बताया कि वह चौथा कैम्प लगाने के लिए उपयुक्त स्थान की खोज में पंचाचूली-शिखर की दाईं ओर थोड़ी दूर तक आगे बढ़ा था, परन्तु वहाँ से आगे बढ़ने का कोई मार्ग न पाकर वह वापस लौट आया। अजीबा की इस खोज से यह स्पष्ट हो गया कि पंचाचूली के शिखर तक पहुँचने के लिए सिर्फ एक ही संभव तरीका है और वह है—दक्षिण-पश्चिम से होकर आगे बढ़ने का प्रयास करना। यद्यपि

इस ओर काफी चढ़ाई थी, फिर भी अन्य कोई रास्ता न पाकर मैंने इसी मार्ग से आगे बढ़ने का निश्चय कर लिया।”

“२५ तारीख की सुबह की सुनहली आभा में अजीबा ने मुझे विदा ली और आँखों में आँसू-भरे बेस कैम्प की ओर चल पड़ा। इस तरह आधी राह से लौट जाने का उसे भी कम दुःख न था। अजीबा के साथ ही अन्य सभी बेस कैम्प लौट गये, क्योंकि वे लोग बेहद थके हुए थे और एक-दो दिन का आराम चाहते थे। उन्होंने मुझे भी अपने साथ ले जाने की कोशिश की, पर मैं एक रोज आराम कर चुका था और व्यर्थ ही समय गँवाना मुझे पसंद नहीं था।”

“अजीबा और अन्य सब के लौट जाने के बाद काफी देर तक दूसरे कैम्प में अकेला बैठा मैं अपने आगे बढ़ने के संबंध में तरह तरह की बातें सोचता रहा। मौसम खराब हो उठने की आशंका ही मुझे थोड़ा-बहुत विचलित कर दे रही थी, लेकिन यह याद आते ही कि गत वर्ष भी मैं इसी कारण असफल लौट गया था, मुझ में जैसे एक नयी शक्ति का संचार हो उठा और मैंने अपने मार्ग में आनेवाली सभी प्रकार की मुसीबतों का सामना करने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

“अपने साथियों के नाम, जो २८ तारीख को दूसरे कैम्प पर आनेवाले थे (साथियों से मेरा मतलब यहाँ राय, रामानाथन और तुमने हैं) एक पत्र लिखकर मैंने छोड़ दिया कि अगर २८ तारीख तक मैं लौटकर उनसे न मिलूँ, तो पंचाचूली-चोटी के दक्षिण-पश्चिम की ओर मेरी खोज की जाय। इतना सब-कुछ करने के बाद कम-से-कम सामान लेकर अकेले ही मैंने अपनी चढ़ाई शुरू कर दी।”

“बर्फ के उस पूर्व-परिचित मैदान से होता हुआ, जहाँ कि हमने पहले अपना तीसरा कैम्प डाला था, मैं २१ हजार ४ सौ फुट की ऊँचाई तक जा पहुँचा। यहाँ तक पहुँचने में मुझे काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था और समय के नाम पर कुल सात घंटे गँवाने पड़े थे। दिन का अंत करीब था, इसलिए मैंने इस स्थान पर फिर से अपना तीसरा कैम्प

गाड़ा। तमाम रात तेज़ बर्फीली हवा तम्बू से आ-आकर टकराती रही। आधी रात बीतते-न-बीतते मुझे जोरों की ठंड भी महसूस होने लगी। ऐसा लगा, वस सब कुछ यहीं समाप्त हो जायगा। पर ब्रांडी की सहायता ने प्राण-रक्षा की। उसकी एक पूरी खुराक लेकर और पैरों को आपस में रगड़-रगड़ कर गर्मी लाने की चेष्टा करते हुए मैंने वह सारी रात जाग कर ही बिताई।”

“२६ तारीख को अपने लक्ष्य से कुल छः सौ फुट नीचे पहुँच कर मैंने अपना चौथा कैम्प लगाया। हाड़फोड़ हवा, बर्फ के भूचाल और जानलेवा चढ़ाई के कारण मैं बुरी तरह थक चुका था। अतएव आगे चढ़ने का इरादा स्थगित कर मैंने रात वहीं बितायी। कहना निरर्थक है कि इस बार भी ब्रांडी ने ही मुझे मौत के मुँह में जाने से रोका।”

“दूसरे दिन सुबह तारीख २७ मई को अपना सारा सामान कैम्प में छोड़कर मैं पंचाचूली-शिखर की ओर बढ़ा। यद्यपि अब तक तय की गई हज़ारों फुट की तुलना में यह छः सौ फुट की दूरी बहुत कम ही थी, फिर भी जैसे जैसे मैं आगे बढ़ता जा रहा था, पंचाचूली का वह शिखर भी जैसे उतना ही पीछे हटता जा रहा था। पता नहीं क्यों, थकावट भी कुछ ज्यादा अनुभव हो रही थी। आखिर किसी तरह कठिनाइयों पर विजय पाता हुआ ठीक ग्यारह बज कर ५० मिनट पर मैं २२ हज़ार ६ सौ फुट ऊँचे उस स्थान पर जा पहुँचा, जहाँ पहुँचने की उत्कट अभिलाषा से अपने-अपने घर छोड़ कर हम सब इस पहाड़ी अंचल में आए हुए हैं। जिस समय मैं चोटी पर पहुँचा, आकाश बादलों से घिरा हुआ था। आसार कुछ अच्छे नजर नहीं आ रहे थे। इसलिए थोड़ी देर तक विश्राम करने के बाद ही मैं लौटने के लिए मुड़ा। इस बीच मैंने एक पत्र लिख डाला था, जिसे एक मजबूत और मोटे कागज़ के लिफाफे में डालकर वहीं शिखर पर एक पत्थर से दबाकर रख दिया। एक अन्य सफ़ेद पत्थर के बड़े-से ढोके पर मैंने हिन्दी में ‘भारत’ तथा अँग्रेज़ी में ‘इंडिया’ भी लिख दिया।”

“भार हल्का करने के लिए अपना कुछ सम्मान मैंने वहीं चौथे कैम्प में छोड़ दिया और बादलों के समूह को चीरता हुआ तेजी के साथ दूसरे कैम्प की ओर लौट पड़ा। धीरे-धीरे शाम हो चली, किन्तु दूसरा कैम्प अभी भी एक मील दूर था। सामानों के बोझ की रस्सी अलग कमर में घाव कर रही थी। अंत में हार मान कर मैंने सारा सामान रास्ते में ही छोड़ दिया और गिरता-पड़ता दूसरे कैम्प तक आ पहुँचा। पर मुझे इतना भी होश न रह गया था कि स्टोव गर्म कर चाय तैयार करता। पास से झाँडी की बोतल निकाली और चंद बूंदें मुँह में डालकर एक ओर लुढ़क गया।”

इधर २८ मई को मैं और दल के अन्य साथी बेस कैम्प से दूसरे कैम्प के लिए रवाना हुए। रास्ते में श्री रामानाथन भी ताशी की तरह ही एक पत्थर के ढोके से बुरी तरह घायल हो गए और दूसरे कैम्प तक पहुँचते-पहुँचते तो उनकी हालत और भी खराब हो गई। सारी रात हम उनके शरीर की मालिश करते रहे। श्री निकोर अब तक बेस कैम्प की ओर रवाना हो चुके थे, पर पंचाचूली-विजय की सूचना हमारे लिए छोड़ते गए थे। इस खुशी में हमने जी भर कर खुशियाँ मनाईं। श्री रामानाथन के ऊपर तो सफलता की इस कहानी ने जादू-सा असर किया। चंद लमहों में जैसे उनकी अस्वस्थता जाती रही और वे पूर्णतया स्वस्थ नजर आने लगे।

मई की ३१ तारीख को ‘बेस कैम्प’ में बिछड़े हुए साथियों से इतने दिनों बाद पहली बार मुलाकात हुई। लपक कर हम एक-दूसरे के गले मिले। आखों में मिलन के प्रेमाश्रु छलक रहे थे।.....एक दिन आराम करने के बाद हम फिर तरोताजा हो गये और दूसरे दिन सुबह ही जब कि ऊषा की लालिमा अभी मिटने भी नहीं पायी थी, पंचाचूली के अस्पष्ट दीखनेवाले शिखर पर एक नजर डाल हम लोगों ने नीचे उतरना आरम्भ कर दिया। हमारी इस एक नजर में अपनी विजय का हर्षोल्लास और सफलता का गर्व स्पष्ट तौर पर झलक आया था।

अभ्यास के प्रश्न

- १। पंचाचूली शिखर पर जो सफल भारतीय अभियान हुआ उसकी कहानी का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
- २। हिमालय के आरोहण में किस प्रकार की बाधाओं का सामना करना पड़ता है?
- ३। इस प्रकार के साहसिक कार्यों से मनुष्य को क्या लाभ है? उनके पीछे कौन-सी प्रेरणा काम करती है?
- ४। निम्नलिखित शब्दों और मुहावरों के अर्थ बताते हुए वाक्यों में उनका प्रयोग कीजिए:—पैग़ाम, अदम्य, निमिष-नात्र, आँखों-ही-आँखों में रात काटना, आशंका, हाड़फोड़, जानलेवा, तरोताज़ा।

कल्पना-शक्ति

बालकृष्ण भट्ट

मनुष्य की अनेक मानसिक शक्तियों में कल्पना-शक्ति भी एक अद्भुत शक्ति है। यद्यपि अभ्यास से यह शतगुण अधिक हो सकती है, पर इसका सूक्ष्म अंकुर किसी-किसी के अंतःकरण में आरंभ ही से रहता है, जिसे प्रतिभा के नाम से पुकारते हैं और जिसका कवियों के लेख में पूर्ण उद्गार देखा जाता है। कालिदास, श्रीहर्ष, शेक्सपीयर, मिल्टन प्रभृति कवियों की कल्पना शक्ति पर चित्त चकित और मुग्ध हो, अनेक तर्क-वितर्क की भूल-भुलैया में चक्कर मारता, टकराता, अंत को इसी सिद्धान्त पर आकर ठहरता है कि वह कोई प्राक्तन संस्कार का परिणाम है या ईश्वर-प्रदत्त शक्ति (जीनियस) है। कवियों का अपनी कल्पना-शक्ति के द्वारा ब्रह्मा के साथ होड़ करना कुछ अनुचित नहीं है, क्योंकि जगत्-स्रष्टा तो एक ही बार जो कुछ बन पड़ा, सृष्टि-निर्माण-कौशल दिखला कर आकल्पांत फ़रागत हो गए, पर कविजन नित्य नई-नई रचना के गढ़ंत से न-जाने कितनी सृष्टि-निर्माण-चातुरी दिखलाते रहते हैं।

यह कल्पना-शक्ति कल्पना करने वाले के हृद्गत भाव या मन के पर-खने की कसौटी या आदर्श है। शांत या वीर प्रकृति वाले से शृंगार-रस-प्रधान कल्पना कभी न बन पड़ेगी। महाकवि मतिराम और भूषण इसके उदाहरण हैं। शृंगार-रस में पगी जयदेव की रसीली तबियत के लिए दाख और मधु से भी अधिकाधिक मधुर गीतगोविन्द ही की रचना विशेष उपयुक्त थी। राम-रावण या कर्णार्जुन युद्ध का वर्णन कभी उनसे न बन पड़ा। यावत्-मिथ्या और दरोग की क्लिबलेगाह इस मन्त्र-पिशाचिनी का कही

और-छोर किसी ने पाया है ! अनुमान करते-करते हैरान गौतम-से मुनि “गौतम” हो गए । कणाद किनका खा-खाकर तिनका बीनने लगे, पर उन्होंने मन की मनभावनी कन्या-कल्पना का पार न पाया । कपिल बेचारे पच्चीस तत्त्वों की कल्पना करते-करते “कपिल” अर्थात् पीले पड़ गए । व्यास ने इन तीनों महादार्शनिकों की दुर्गति देख मन में सोचा, कौन इस भूतनी के पीछे दौड़ता फिरे ; यह संपूर्ण विश्व, जिसे हम प्रत्यक्ष देख-सुन सकते हैं, सब कल्पना-ही-कल्पना, मिथ्या, नाशवान् और क्षण-भंगुर है, अतएव हेय है । उन्हीं की देखादेखी बुद्धदेव ने भी अपने बुद्धत्व का यही निष्कर्ष निकाला कि जो कुछ कल्पना-जन्य है, सब क्षणिक और नश्वर है । ईश्वर तक को उन्होंने इस कल्पना के अंतर्गत ठहरा कर शून्य अथवा निर्वाण ही को मुख्य माना । रेखागणित के प्रवर्तक उक्लैडिस (यूक्लिड) ज्यामिति की हरेक शकल में बिन्दु और रेखा की कल्पना करते-करते हमारे सुकुमार-मति इन दिनों के छात्रों का दिमाग ही चाट गए । कहाँ तक गिनावें, संपूर्ण भारत-का-भारत इसी कल्पना के पीछे गारत हो गया, जहाँ कल्पना (थियरी) के अतिरिक्त करके दिखाने योग्य (प्रैक्टिस), कुछ रहा ही नहीं । यूरोप के अनेक वैज्ञानिकों की कल्पना को शुष्क कल्पना से कर्तव्यता (प्रैक्टिस) में परिणत होते देख यहाँ वालों को हाथ मल-मल पछताना और ‘कल्पना’ पड़ा ।

प्रिय पाठक ! यह कल्पना बुरी बला है । चौकस रहो, इसके पेच में कभी न पड़ना, नहीं तो पछताओगे । आज हमने भी इस कल्पना की कल्पना में पड़ बहुत-सी भूठी-भूठी कल्पना कर आपका थोड़ा-सा समय नष्ट किया, क्षमा करियेगा ।

अभ्यास के प्रश्न

- १ । बालकृष्ण भट्ट की निबन्ध शैली की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए ।
- २ । इस निबन्ध में व्यक्त किए गए व्यंगपूर्ण विचारों को संक्षेप में लिखिए ।

- ३। निम्नलिखित शब्दों के अर्थ बताते हुए उपयुक्त वाक्यों में उनका प्रयोग कीजिए :—
प्रतिभा, उद्गार, प्राक्तन, ईश्वरप्रदत्त, अकल्पांत, यावत्स्थित्या, दरोरा, हेय, कल्पना-जन्य, नश्वर, गारत, निर्वाण ।
- ४। निम्नलिखित के विषय में संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :—
कालिदास, श्रीहर्ष, शेक्सपीयर, मिल्टन, मतिराम, भूषण, जयदेव, गौतम, कपिल, व्यास, उक्लैदिस ।
- ५। लेखक ने कल्पना को 'कल्पना-पिशाचिनी', अथवा 'भूतनी' किस भाव से कहा है ?

दो बैलों की कथा

प्रेमचन्द

(१)

जानवरों में गधा सबसे बुद्धिहीन समझा जाता है। हम किसी आदमी को पल्ले दरजे का बेवकूफ कहना चाहते हैं, तो उसे गधा कहते हैं। गधा सचमुच बेवकूफ है या उसके सीधेपन, उसकी निरापद सहिष्णुता ने उसे यह पदवी दे दी है, इसका निश्चय नहीं किया जा सकता। गाएँ सींग मारती हैं, ब्याई हुई गाय तो अनायास ही सिंहिनी का रूप धारण कर लेती है। कुत्ता भी बहुत गरीब जानवर है, लेकिन कभी-कभी उसे भी क्रोध आ ही जाता है, लेकिन गधे को कभी क्रोध करते नहीं सुना, न देखा। जितना चाहो गरीब को मारो, चाहे जैसी खराब सड़ी हुई घास सामने डाल दो, उसके चेहरे पर कभी असंतोष की छाया भी न दिखाई देगी। बैशाख में चाहे एकाध बार कुलेल कर लेता हो, पर हमने तो उसे कभी खुश होते नहीं देखा। उसके चेहरे पर एक स्थायी विषाद स्थायी रूप से छाया रहता है। सुख-दुःख, हानि-लाभ, किसी दशा में भी उसे बदलते नहीं देखा। ऋषियों-मुनियों के जितने गुण हैं, वह सभी उसमें पराकाष्ठा को पहुँच गए हैं, पर आदमी उसे बेवकूफ कहता है। सद्गुणों का इतना अनादर कभी नहीं देखा। कदाचित् सीधापन संसार के लिये उपयुक्त नहीं है। देखिए न भारतवासियों की अफ्रीका में क्यों दुर्दशा हो रही है? बेचारे शराब नहीं पीते, चार पैसे कुसमय के लिये बचाकर रखते हैं, जी तोड़ कर काम करते हैं, किसी से लड़ाई-झगड़ा नहीं करते, चार बातें सुनकर गम खा जाते हैं। फिर भी बदनाम हैं। कहा जाता है, वे जीवन के आदर्श को नीचा करते हैं। अगर वे भी ईंट का जवाब पत्थर से देना सीख जाते, तो शायद सभ्य

कहलान लगते। जापान की मिसाल सामने है। एक ही विजय ने उसे संसार की सभ्य जातियों में गण्य बना दिया।

लेकिन गधे का एक छोटा भाई और है, जो उससे कुछ ही कम गधा है, और वह है 'बैल'। जिस अर्थ में हम 'गधा' शब्द का प्रयोग करते हैं, कुछ उसीसे मिलते-जुलते अर्थ में 'बछिया के ताऊ' का प्रयोग भी करते हैं। कुछ लोग बैल को शायद बेवकूफी में सर्वश्रेष्ठ कहेंगे; हमारा विचार ऐसा नहीं। बैल कभी-कभी मारता भी है, कभी-कभी अड़ियल बैल भी देखने में आ जाता है। और भी कई रीतियों से वह अपना असंतोष प्रकट कर देता है। अनएव उसका स्थान गधे से नीचा है।

भूरी काछी के दोनों बैलों के नाम थे हीरा और मोती। दोनों पछाई जाति के थे। देखने में सुन्दर, काम में चौकस, डील ऊँचे। बहुत दिनों साथ रहते-रहते दोनों में भाई-चारा हो गया था। दोनों आमने सामने या आस-पास बैठे हुए एक दूसरे से मूक भाषा में विचार विनिमय करने थे। एक दूसरे के मन की बात कैसे समझ जाता था, हम नहीं कह सकते। अवश्य ही उनमें कोई ऐसी गुप्त शक्ति थी, जिससे जीवों में श्रेष्ठता का दावा करने वाला मनुष्य वंचित है। दोनों एक दूसरे को चाटकर और सूँघकर अपना प्रेम प्रकट करते। कभी-कभी दोनों सींग भी मिला लिया करते थे। विग्रह के भाव से नहीं केवल विनोद के भाव से, आत्मीयता के भाव से, जैसे दोस्तों में घनिष्ठता होते ही धील-धप्पा होने लगता है। इसके बिना दोस्ती कुछ फुमफुसी, कुछ हलकी-सी रहती है, जिस पर ज्यादा विश्वास नहीं किया जा सकता। जिस वक्त ये दोनों बैल हल या गाड़ी में जोत दिये जाते और गरदनें हिला-हिलाकर चलते तो हरेक की यही चेष्टा होती थी कि ज्यादा-से-ज्यादा बोझ मेरी ही गरदन पर रहे। दिन-भर के बाद दोपहर या संध्या को दोनों खुलते तो एक दूसरे को चाट-चूटकर अपनी थकान मिटा लिया करते। नाँद में खली-भूसा पड़ जाने के बाद दोनों साथ उठते, साथ नाँद में मुँह डालते और साथ ही बैठते थे। एक मुँह हटा लेता तो दूसरा भी हटा लेता था।

संयोग की बात, भूरी ने एक बार गोई को ससुराल भेज दिया। बैलों को क्या मालूम, वे क्यों भेजे जाते हैं। समझे मालिक ने हमें बेच दिया। अपना यों बेचा जाना उन्हें अच्छा लगा या बुरा, कौन जाने, पर भूरी के साले गया को, घर तक गोई ले जाने में दाँतों पसीना आ गया। पीछे से हाँकता तो दोनों दाँ-बाँ भागते, पगहिया पकड़कर आगे से खींचता, तो दोनों पीछे को जोर लगाते। मारता तो दोनों सींग नीचे करके हुंकारते। अगर ईश्वर ने उन्हें वाणी दी होती, तो भूरी से पूछते—तुम हम गरीबों को क्यों निकाल रहे हो? हमने तो तुम्हारी सेवा करने में कोई कसर नहीं उठा रखी। अगर इतनी मेहनत से काम नहीं चलता था तो और काम लेते। हमें तो तुम्हारी चाकरी में मर जाना कबूल था। हमने कभी दाने-चारे की शिकायत नहीं की। तुमने जो कुछ खिलाया, वह सिर झुकाकर खा लिया। फिर तुमने हमें इस जालिम के हाथ क्यों बेच दिया?

सन्ध्या समय दोनों बैल अपने नये स्थान पर पहुँचे। दिनभर के भूखे थे, लेकिन जब नाँद में लगाये गये, तो एक ने भी उसमें मुँह न डाला। दिल भारी हो रहा था। जिसे उन्होंने अपना घर समझ रखा था, वह आज उनसे छूट गया था। यह नया घर, नया गाँव, नये आदमी, सब उन्हें बेगानों से लगते थे।

दोनों ने अपनी मूक भाषा में सलाह की, एक दूसरे को कनखियों से देखा और लेट गए। जब गाँव में सोता पड़ गया, तो दोनों ने जोर मारकर पगहे तुड़ा डाले और घर की तरफ चल पड़े। पगहे बहुत मजबूत थे। अनुमान न हो सकता था कि कोई बैल उन्हें तोड़ सकेगा, पर इन दोनों में इस समय दूनी शक्ति आ गई थी। एक-एक झटके में रस्सियाँ टूट गईं।

भूरी प्रातःकाल सोकर उठा, तो देखा बैल चरनी पर खड़े हैं। दोनों की गरदनो में आधा-आधा गराँव लटक रहा है। घुटनों तक पाँव कीचड़ से भरे हैं, और दोनों की आँखों में विद्रोहमय स्नेह झलक रहा है।

भूरी बैलों को देखकर स्नेह से गद्गद हो गया। दौड़कर उन्हें गले लगा लिया। प्रेमालिंगन और चम्बन का वह दृश्य बड़ा ही मनोहर था।

घर और गाँव के लड़के जमा हो गए और तालियाँ बजा-बजा कर उनका स्वागत करने लगे। गाँव के इतिहास में यह घटना अभूतपूर्व न होने पर भी महत्वपूर्ण थी। बाल सभा ने निश्चय किया, दोनों पशु वीरों को अभिनन्दन-पत्र देना चाहिए। कोई अपने घर से रोटियाँ लाया, कोई गुड़, कोई चोकर, कोई भूसी।

एक बालक ने कहा—ऐसे बैल किसी के पास न होंगे।

दूसरे ने समर्थन किया—इतनी दूर से दोनों अकेले चले आए।

तीसरा बोला—बैल नहीं हैं वे, उस जन्म के आदमी हैं।

इसका प्रतिवाद करने का किसी को साहस न हुआ।

भूरी की स्त्री ने बैलों को द्वार पर देखा, तो जल उठी। बोली—कैसे नमकहराम बैल हैं कि एक दिन भी वहाँ काम न किया; भाग खड़े हुए।

भूरी अपने बैलों पर यह आक्षेप न सुन सका। बोला—नमकहराम क्यों हैं? चारा-दाना कुछ न दिया होगा, तो क्या करते!

स्त्री ने रोब के साथ कहा—बस तुम्हीं तो बैलों को खिलाना जानते हो, और तो सभी पानी पिला-पिलाकर रखते हैं।

भूरी ने चिढ़ाया—चारा मिलता तो क्यों भागते?

स्त्री चिढ़ी—भागे इसलिये कि वे लोग तुम जैसे बुद्धुओं की तरह बैलों को सहलाते नहीं। खिलाते हैं, तो रगड़कर जोतते भी हैं। ये दोनों ठहरे काम-चोर, भाग निकले। अब देखूँ कहाँ से खली और चोकर मिलता है। सूखे भूसे के सिवा कुछ न दूंगी, खायें चाहे मरें।

वही हुआ। मजूर को कड़ी ताकीद कर दी गई कि बैलों को खाली सूखा भूसा दिया जाय।

बैलों ने नाँद में मुँह डाला तो फीका-फीका! न कोई चिकनाहट, न कोई रस। क्या खाएँ, आशा भरी आँखों से द्वार की ओर ताकने लगे।

भूरी ने मजूर से कहा—थोड़ी-सी खली क्यों नहीं डाल देता बे?

मालकिन मुझे मार ही डालेंगी।”

“चुराकर डाल आ।”

“ना दादा, पीछे से तुम भी उन्हीं की-सी कहोगे।”

दूसरे दिन भूरी का साला फिर आया और बैलों को ले चला। अबकी उसने दोनों को गाड़ी में जोता।

दो चार बार मोती ने गाड़ी को खाई में गिराना चाहा, पर हीरा ने सँभाल लिया। वह ज्यादा सहनशील था।

संध्या समय घर पहुँचकर उसने दोनों को मोटी रस्सियों में बाँधा और कलकी शरारत का मजा चखाया। फिर वही सूखा भूसा डाल दिया। अपने दोनों बैलों को खली, चूनी सब कुछ दी।

दोनों बैलों का ऐसा अपमान कभी नहीं हुआ था। भूरी इन्हें फूल की छड़ी से भी न छूता था। उसकी टिटकार पर दोनों उड़ने लगते थे। यहाँ मार पड़ी। आहत सम्मान की व्यथा तो थी ही, उसपर मिला सूखा भूसा। नाँद की तरफ आँखें भी न उठाई।

(२)

दूसरे दिन गया ने बैलों को हल में जोता ; पर इन दोनों ने जैसे पाँव उठाने की क्रसम खा ली थी। वह मारते-मारते थक गया, पर दोनों ने पाँव नहीं उठाया। एक बार जब उस निर्दयी ने हीरा की नाक में खूब डंडे जमाए, तो मोती का गुस्सा क्राबू के बाहर हो गया। हल लेकर भागा। हल, रस्सी, जुआ, जोत सब टूट-टाट कर बराबर हो गया। गले में बड़ी-वड़ी रस्सियाँ न होतीं, तो दोनों पकड़ाई न आते।

हीरा ने मूक भाषा में कहा—भागना व्यर्थ है।

मोती ने उसी भाषा में उत्तर दिया—तुम्हारी तो इसने जान ही ले ली थी। अबकी बड़ी मार पड़ेगी।

“पड़ने दो, बैल का जन्म लिया है, तो मार से कहाँ तक बचेंगे।”

“गया दो आदमियों के साथ दौड़ा आ रहा है दोनों के हाथों में लाठियाँ हैं।”

मोती बोला—कहो तो दिखा दूँ कुछ मजा में भी। लाठी लेकर आ रहा है !

हीरा ने समझाया—नहीं भाई ! खड़े हो जाओ ।

“मुझे मारेगा तो मैं भी एक-दो को गिरा दूँगा ।”

“नहीं, हमारी जाति का यह धर्म नहीं है ।”

मोती दिल में ऐंठ कर रह गया । गया आ पहुँचा, और दोनों को पकड़ कर ले चला । कुशल हुई कि उसने इस वक्त मारपीट न की, नहीं मोती भी पलट पड़ता । उसके तेवर देखकर गया और उसके सहायक समझ गये, इस वक्त टाल जाना ही मसलहत है ।

आज दोनों के सामने फिर वही सूखा भूसा लाया गया । दोनों चुपचाप खड़े रहे । घर के लोग भोजन करने लगे । उसी वक्त एक छोटी सी-लड़की दो रोटियाँ लिए निकली, और दोनों के मुँह में देकर चली गई । उस एक रोटी से इनकी भूख तो क्या शांत होती, पर दोनों के हृदय को मानो भोजन मिल गया । यहाँ भी किसी सज्जन का वास है । लड़की गया की थी । उसकी माँ मर चुकी थी । सीतेली माँ उसे मारती रहती थी, इसलिये इन बैलों से उसे एक प्रकार की आत्मीयता हो गयी थी ।

दोनों दिन-भर जोते जाते, डण्डे खाते, अड़ते । शाम को थान पर बाँध दिये जाते और रात को वही वालिका उन्हें दो रोटियाँ खिला जाती । प्रेम के इस प्रसाद की वह बरकत थी कि दो दो गाल सूखा भूसा खाकर भी दोनों दुर्बल न होते थे, मगर दोनों की आँखों में, रोम-रोम में विद्रोह भरा हुआ था ।

एक दिन मोती ने मूक भाया में कहा—“अब तो नहीं सहा जाता हीरा ।”

“क्या करना चाहते हो ?”

“एकाध को सींगों पर उठाकर फेंक दूँगा ।”

“लेकिन जानते हो, वह प्यारी लड़की जो हमें रोटियाँ खिलाती है, उसी की लड़की है, जो इस घर का मालिक है । वह बेचारी अनाथ न हो जायगी ?”

“तो मालकिन को न फेंक दूँ ? वही तो उस लड़की का मारती है ।”

“लेकिन औरत जात पर सींग चलाना मना है, यह भूले जाते हो ।”

“तुम तो किसी तरह निकलने ही नहीं देते । तो आओ, आज तुड़ाकर भाग चलें ।”

“हाँ, यह मैं स्वीकार करता हूँ ; लेकिन इतनी मोटी रस्सी टूटेगी कैसे ?”

“इसका उपाय है। पहले रस्सी को थोड़ा-सा चबा लो। फिर एक ऋटके में जाती है।”

रात को जब बालिका रोटियाँ खिलाकर चली गई, तो दोनों रस्सियाँ चबाने लगे, पर मोटी रस्सी मुँह में न आती थी। बेचारे बार-बार जोर लगाकर रह जाते थे।

सहसा घर का द्वार खुला और वही लड़की निकली। दोनों सिर झुकाकर उसका हाथ चाटने लगे। दोनों की पूछें खड़ी हो गई। उसने उनके माथे सहलाये और बोली—खोले देती हूँ। चुपके से भाग जाओ, नहीं यहाँ लोग तुम्हें मार डालेंगे। आज घर में सलाह हो रही है कि इनकी नाकों में नाथ डाल दी जाय।

उसने गराँव खोल दिया ; पर दोनों चुपचाप खड़े रहे।

मोती ने अपनी भाषा में पूछा—अब चलते क्यों नहीं ?

हीरा ने कहा—चलें तो, लेकिन कल इस अनाथ पर आफत आयेगी। सब इसी पर सन्देह करेंगे। सहसा बालिका चिल्लाई—दोनों फूफावाले बैल भागे जा रहे हैं। ओ दादा ! दादा ! दोनों बैल भागे जा रहे हैं ! जल्दी दौड़ो।

गया हड़बड़ाकर भीतर से निकला और बैलों को पकड़ने चला। वे दोनों भागे। गया ने पीछा किया। वह और भी तेज़ हुए। गया ने शोर मचाया। फिर गाँव के कुछ आदमियों को साथ लेने के लिए लौटा। दोनों मित्रों को भागने का मौक़ा मिल गया। सीधे दौड़ते चले गये। यहाँ तक कि मार्ग का ध्यान न रहा। जिस परिचित मार्ग से आये थे उसका यहाँ पता न था। नये-नये गाँव मिलने लगे। तब दोनों एक खेत के किनारे खड़े होकर सोचने लगे—अब क्या करना चाहिये ?

हीरा ने कहा—मालूम होता है, राह भूल गये।

“तुम भी तो बेतहाशा भागे। वहीं उसे मार गिराना था।”

“उसे मार गिराते तो दुनिया क्या कहती ? वह अपना धर्म छोड़ दे, लेकिन हम अपना धर्म क्यों छोड़ें।”

दोनों भूख से व्याकुल हो रहे थे। खेत में मटर खड़ी थी, चरने लगे। रह-रह कर आहट ले लेते थे, कोई आता तो नहीं है।

जब पेट भर गया और दोनों ने आजादी का अनुभव किया, तो मस्त होकर उछलने कूदने लगे। पहले दोनों ने डकार ली। फिर सींग मिलाये और एक दूसरे को ठेलने लगे। मोती ने हीरा को कई कदम पीछे हटा दिया, यहाँ तक कि वह खाई में गिर गया। तब उसे भी क्रोध आया। सँभलकर उठा और फिर मोती से भिड़ गया। मोती ने देखा खेल-खेल में झगड़ा हुआ चाहता है, तो किनारे हट गया।

(३)

अरे ! यह क्या ! कोई साँड़ डौंकता चला आ रहा है। हाँ, साँड़ ही है। वह सामने आ पहुँचा। दोनों मित्र बगल भँक रहे हैं। साँड़ पूरा हाथी है। उससे भिड़ना जान से हाथ धोना है, लेकिन न भिड़ने पर भी तो जान बचती नहीं नजर आती। इन्हीं की तरफ़ आ भी रहा है। कितनी भयंकर सूरत है !

मोती ने मूक भाषा में कहा—बुरे फँसे। जान कैसे बचेगी ? कोई उपाय सोचो।

हीरा ने चिंतित स्वर में कहा—अपने घमंड में भूला हुआ है। आरजू-बिनती न मुनेगा।

“भाग क्यों न चलें ?”

“भागना कायरता है।”

“तो फिर यहीं मरो। बंदा तो नौ-दो ग्यारह होता है।”

“और जो दौड़ाए ?”

“तो फिर कोई उपाय सोचो जल्द।”

“उपाय यही है कि उसपर दोनों जनों एक साथ चोट करें। मैं आगे से रगेदता हूँ तुम पीछे से रगेदो; दोहरी मार पड़ेगी तो भाग खड़ा होगा। ज्योंही मेरी ओर झपटे तुम बगल से उसके पेट में सींग घुसेड़ देना। जान का जोखिम है, पर दूसरा उपाय नहीं है।”

दोनों मित्र जान हथेलियों पर लेकर लपके। साँड़ को कभी संगठित शत्रुओं से लड़ने का तजुर्बा न था। वह तो एक शत्रु से मल्लयुद्ध करने का आदी था। ज्योंही हीरा पर झपटा त्योंही मोती ने पीछे से दौड़ाया। साँड़ उसकी तरफ मुड़ा तो हीरा ने रगेदा। साँड़ चाहता था कि एक एक करके दोनों को गिरा ले, पर ये दोनों भी उस्ताद थे। उसे ऐसा अवसर न देते थे। एक बार साँड़ झल्लाकर हीरा का अन्त कर देने के लिये चला कि मोती ने बगल से आकर उसके पेट में सींग भोंक दिये। साँड़ क्रोध में आकर पीछे फिरा तो हीरा ने दूसरे पहलू में सींग चुभा दिया। अखिर बेचारा ज़ख्मी होकर भागा और दोनों मित्रों ने दूर तक पीछा किया। यहाँ तक कि साँड़ बेदम होकर गिर पड़ा। तब दोनों ने उसे छोड़ दिया।

दोनों मित्र विजय के नशे में भ्रमते चले जाते थे।

मोती ने अपनी सांकेतिक भाषा में कहा—मेरा जी तो चाहता था कि बच्चा को मार ही डालूं।

हीरा ने तिरस्कार किया—गिरे हुए बैरी पर सींग नहीं चलाना चाहिए।

“यह सब ढोंग है। बैरी को ऐसा मारना चाहिए कि फिर न उठे।”

“अब घर कैसे पहुँचेंगे, यह सोचो।”

“पहले कुछ खा लें तो सोचें।”

सानने मटर का खेत था ही। मोती उसमें घुस गया। हीरा मना करता रहा, पर उसने एक न सुनी। अभी दो ही चार ग्रास खाये थे कि दो आदमी लाठियाँ लिये दौड़ पड़े, और दोनों मित्रों को घेर लिया। हीरा तो मेड़ पर था, निकल गया। मोती सींचे हुए खेत में था। उसके खुर कीचड़ में धँसने लगे। भाग न सका। पकड़ लिया गया। हीरा ने देखा संगी संकट में है तो लौट पड़ा। फँसेंगे तो दोनों साथ फँसेंगे। रखवालों ने उसे भी पकड़ लिया।

प्रातःकाल दोनों मित्र काँजीहौस में बन्द कर दिए गए।

(४)

दोनों मित्रों के जीवन में पहली बार ऐसा साबिका पड़ा कि सारा दिन बीत गया और खाने को एक तिनका भी न मिला। समझ ही में न आता था

कि यह कैसा स्वामी है। इससे तो गया फिर भी अच्छा था। वहाँ कई भैंसें थीं, कई बकरियाँ, कई घोड़े, कई गधे, पर किसी के सामने चारा न था। सब जमीन पर मुरदों की तरह पड़े थे। कई तो इतने कमजोर हो गये थे कि खड़े भी न हो सकते थे। सारा दिन दोनों मित्र फाटक की ओर टकटकी लगाये रहे, पर कोई चारा लेकर आता न दिखाई दिया। तब दोनों ने दीवार की नमकीन मिट्टी चाटनी शुरू की; पर उससे क्या तृप्ति होती।

रात को भी जब भोजन न मिला तो हीरा के दिल में विद्रोह की ज्वाला दहक उठी। मोती से बोला—अब तो नहीं रहा जाता मोती!

मोती ने सिर लटकाए हुए जवाब दिया—मुझे तो मालूम होता है कि प्राण निकल रहे हैं।

“इतनी जल्द हिम्मत न हारो भाई! यहाँ से भागने का कोई उपाय निकालना चाहिए।”

“आओ, दीवार तोड़ डाले।”

“मुझसे तो अब कुछ न होगा।”

“बस, इसी बूते पर अकड़ते थे?”

“सारी अकड़ निकल गई।”

बाड़े की दीवार कच्ची थी। हीरा भजबूत तो था ही, अपने नुकीले सींग दीवार में गड़ा दिये और जोर मारा तो मिट्टी का एक चिप्पड़ निकल आया। फिर तो उसका साहस बढ़ा। उसने दौड़-दौड़कर दीवार पर चोटें कीं और हर चोट में थोड़ी-थोड़ी मिट्टी गिराने लगा।

उसी समय काँजीहौस का चौकीदार लालटेन लेकर जानवरों की हाजिरी लेने आ निकला। हीरा का यह उजड़ुपन देखकर उसने उसे कई डंडे रसीद किये और मोटी सी रस्सी से बाँध दिया।

मोती ने पड़े-पड़े कहा—“आखिर मार खाई, क्या मिला?”

“अपने बूते-भर जोर तो मार लिया।”

“ऐसा जोर मारना किस काम का कि और बंधन में पड़ गए।”

“जोर तो मारता ही जाऊँगा, चाहे कितने ही बंधन बढ़ते जायें।”

“जान से हाथ धोना पड़ेगा।”

“कुछ परवाह नहीं। यों भी तो मरना ही है। सोचो, दीवार खुद जाती तो कितनी जानें बच जातीं। इतने भाई यहाँ बंद हैं। किसी की देह में जान नहीं है। दो-चार दिन और यही हाल रहा, तो सब मर जायँगे।”

“हाँ, यह बात तो है। अच्छा तो लो, फिर मैं भी जोर लगाता हूँ।”

मोती ने भी दीवार में उसी जगह सींग मारा। थोड़ी सी मिट्टी गिरी और हिम्मत बढ़ी। फिर तो वह दीवार में सींग लगाकर इस तरह जोर करन लगा, मानो किसी प्रतिद्वन्द्वी से लड़ रहा है। आखिर कोई दो घंटे की जोर-आजमाई के बाद दीवार ऊपर से लगभग एक हाथ गिर गई। उसने दूनी शक्ति से दूसरा धक्का मारा, तो आधी दीवार गिर पड़ी।

दीवार का गिरना था कि अधमरे से पड़े हुए सभी जानवर चेत उठे। तीनों घोड़ियाँ सरपट भाग निकलीं। फिर बकरियाँ निकलीं। इसके बाद भैंसें भी खिसक गईं। पर गधे अभी तक ज्यों-के त्यों खड़े थे।

हीरा ने पूछा—तुम दोनों क्यों नहीं भाग जाते ?

एक गधे ने कहा—जो कहीं फिर पकड़ लिये जायँ ?

“तो क्या हर्ज है ? अभी तो भागने का अवसर है।”

“हमें तो डर लगता है। हम यहीं पड़े रहेंगे।”

आधी रात से ऊपर जा चुकी थी। दोनों गधे अभी तक खड़े सोच रहे थे, भागें या न भागें। और मोती अपने मित्र की रस्सी तोड़ने में लगा हुआ था। जब वह हार गया तो हीरा ने कहा—तुम जाओ, मुझे यहीं पड़ा रहने दो। शायद कभी भेंट हो जाय।

मोती ने आँखों में आँसू लाकर कहा—तुम मुझे इतना स्वार्थी समझते हो हीरा ! हम और तुम इतने दिनों एक साथ रहे। आज तुम विपत्ति में पड़ गये तो मैं तुम्हें छोड़कर अलग हो जाऊँ ?

हीरा ने कहा—बहुत मार पड़ेगी। लोग समझ जायँगे कि यह तुम्हारी शरारत है।

मोती गर्व से बोला—जिस अपराध के लिए तुम्हारे गले में बंधन पड़ा,

उसके लिए अगर मुझ पर मार पड़े तो क्या चिंता। इतना तो हो ही गया कि नौ-दस प्राणियों की जान बच गई। वह सब तो असीस देंगे।

यह कहते हुए मोती ने दोनों गधों को सींग से मार-मारकर बाड़े के बाहर निकाला और तब अपने बंधु के पास आकर सो रहा।

भोर होते ही मुंशी, चौकीदार और अन्य कर्मचारियों में कैसी खलबली मची, इसको लिखने की जरूरत नहीं। बस इतना ही काफ़ी है कि मोती की खूब मरम्मत हुई और उसे भी मोटी रस्सी में बाँध दिया गया।

(६)

एक सप्ताह तक दोनों मित्र वहाँ बँधे पड़े रहे। किसी ने चारे का एक तृण भी न डाला। हाँ, एक बार पानी दिखा दिया जाता था। यही उनका आधार था। दोनों इतने दुर्बल हो गये थे कि उठा तक न जाता था। ठठरियाँ निकल आई थीं।

एक दिन बाड़े के सामने डुग्गी बजने लगी और दो-पहर होते-होते वहाँ पचास साठ आदमी जमा हो गये। तब दोनों मित्र निकाले गये और उनकी देखभाल होने लगी। लोग आ-आकर उनकी सूरत देखते और मन फीका करके चले जाते। ऐसे मृतक बैलों का कौन खरीदार होता !

सहसा एक दढ़ियल आदमी जिसकी आँखें लाल थीं, मुद्रा अत्यंत कठोर, आया और दोनों मित्रों के कूल्हों में उँगली गोदकर मुंशीजी से बातें करने लगा। उसका चेहरा देख कर अंतरज्ञान से दोनों मित्रों के दिल काँप उठे। वह कौन है और उन्हें क्यों टटोल रहा है, इस विषय में उन्हें कोई संदेह न हुआ। दोनों ने एक दूसरे को भीत नेत्रों से देखा और सिर झुका लिया।

हीरा ने कहा—गया के घर से नाहक भागे। अब जान न बचेगी।

मोती ने अश्रद्धा के भाव से उत्तर दिया—कहते हैं, भगवान् सब के ऊपर दया करते हैं। उन्हें हमारे ऊपर क्यों दया नहीं आती ?

“भगवान के लिये हमारा मरना जीना दोनों बराबर है। चलो अच्छा

ही है, कुछ दिन उनके पास तो रहेंगे। एक बार भगवान ने उस लड़की के रूप में हमें बचाया था। क्या अब न बचाएँगे ?”

“यह आदमी छुरी चलाएगा, देख लेना !”

“तो क्या चिन्ता है ! मांस, खाल, सींग, हड्डी सब किसी-न-किसी काम में आ जाएगी।”

नीलाम हो जाने के बाद दोनों मित्र उस दड़ियल के साथ चले। दोनों की बोटी-बोटी काँप रही थी। बेचारे पाँव तक न उठा सकते थे, पर भय के मारे गिरते पड़ते भागे जाते थे, क्योंकि वह ज़रा भी चाल धीमी हो जाने पर जोर से डंडा जमा देता था।

राह में गाय-बैलों का एक रेवड़ हरे-हरे हार में चरता नज़र आया। सभी जानवर प्रसन्न थे, चिकने, चपल। कोई उछलता था, कोई आनन्द से बैठा पागुर करता था। कितना सुखी जीवन था इनका, पर कितने स्वार्थी है सब ! किसी को चिन्ता नहीं कि उनके दो भाई अधिक के हाथ पड़े कैसे दुःखी हैं !

सहसा दोनों को मालूम हुआ कि यह परिचित राह है। हाँ, इसी रास्ते से गम्मा उन्हें ले गया था। वही खेत, वही बाग, वही गाँव मिलने लगे। प्रतिक्षण उनकी चाल तेज़ होने लगी। सारी थकन, सारी दुर्बलता गायब हो गई। आहा ! यह लो, अपना ही हार आ गया। इसी कुँएँ पर हम पुर चलाने आया करते थे। हाँ, यही कुआँ है।

मोती ने कहा—हमारा घर नगीच आ गया।

हीरा बोला—भगवान की दया है।

“मैं तो अब घर भागता हूँ।”

“यह जाने देगा ?”

“इसे मैं मार गिराता हूँ।”

“नहीं, नहीं, दौड़कर थान पर चलो। वहाँ से हम आगे न जाएँगे।”

दोनों उन्मत्त होकर बछड़ों की भाँति कुलेलें करते हुए घर की ओर दौड़े। वह हमारा थान है, दोनों दौड़ कर अपने थान पर आए और खड़े हो गए। दड़ियल भी पीछे पीछे दौड़ा चला आता था।

भूरी द्वार पर बैठा धूप खा रहा था। बैलों को देखते ही दौड़ा और उन्हें बारी-बारी से गले लगाने लगा। मित्रों की आँखों से आनंद के आँसू बहने लगे। एक भूरी का हाथ चाट रहा था।

दड़ियल ने जाकर बैलों की रस्सियाँ पकड़ लीं।

भूरी ने कहा—मेरे बैल है।

“तुम्हारे बैल कैसे ? मैं मवेशीखाने से नीलाम कराकर लिए जाता हूँ।”

“मैं तो समझता हूँ, चुराए लिए आते हो। चुपके से चले जाओ। बैल मेरे हैं। मैं बेचूंगा तो विकेंगे। किसी को मेरे बैल नीलाम करने का क्या अधिकार ?”

“जाकर थाने में रपट कर दूंगा।”

“मेरे बैल हैं। इसका सबूत यह है कि मेरे द्वार पर खड़े हैं।”

दड़ियल भल्लाकर बैलों को जबरदस्ती पकड़ ले जाने के लिए बढ़ा। उसी वक्त मोती ने सींग चलाया। दड़ियल पीछे हटा। मोती ने पीछा किया। दड़ियल भागा। मोती पीछे दौड़ा। गाँव के बाहर निकल जाने पर वह रुका; पर खड़ा दड़ियल का रास्ता देख रहा था। दड़ियल दूर खड़ा धमकियाँ दे रहा था, गालियाँ निकाल रहा था, पत्थर फेंक रहा था और मोती विजयी शूर की भाँति उसका रास्ता रोके खड़ा था। गाँव के लोग यह तमाशा देखते थे और हँसते थे।

जब दड़ियल हारकर चला गया तो मोती अकड़ता हुआ लौटा।

हीरा ने कहा—मैं डर रहा था कि कहीं तुम गुस्से में आकर मार न बैठो।

“अगर वह मुझे पकड़ता तो मैं बे-मारे न छोड़ता।”

“अब न आएगा।”

“आएगा तो दूर ही से खबर लूंगा। देखूँ कैसे ले जाता है।”

“जो गोली मरवा दे ?”

“मर जाऊँगा; पर उसके काम तो न आऊँगा।”

“हमारी जान को कोई जान ही नहीं समझता।”

“इसीलिए कि हम इतने सीधे होते हैं।”

जरा देर में नाँदों में खली, भूसा, चोकर, दाना भर दिया गया और मित्र खाने लगे। भूरी खड़ा दोनों को सहला रहा था और बीसों लड़के तमाशा देख रहे थे। सारे गाँव में उछाह सा मालूम होता था।

उसी समय मालकिन ने आकर दोनों के माथे चूम लिए।

अभ्यास के प्रश्न

- १। इस कहानी को संक्षेप में लिखिए।
- २। हीरा, मोती, भूरी, उसकी घरवाली और गया के चरित्रों पर प्रकाश डालिए।
- ३। “इस कहानी में व्यंग्य और परिहास के साथ एक कोमल करुणा और ममता का भी पुट है।”—इस कथन को स्पष्ट करते हुए उसके समर्थन में इसी कहानी से कुछ उपयुक्त उदाहरण दीजिए।
- ४। प्रेमचन्द की कहानी-कला पर प्रकाश डालते हुए लिखिए कि यह कहानी आपको किस लिये अच्छी लगी।
- ५। नीचे लिखे मुहावरों का वाक्यों में सार्थक प्रयोग कीजिए:—
कुलेल करना, जी तोड़कर काम करना, ग़म खाना, ईंट का जवाब पत्थर से देना, दाँतों पसीना आना, फूल की छड़ी से भी न छूना, बगल भाँकना, जान से हाथ धोना, नौ-दो-ग्यारह होना, मरम्मत करना, खबर लेना।

जीता जागता तिलिस्म

ब्रजमोहन वर्मा

प्राचीन काल में भारतीयों ने संसार का विज्ञान संबंधी ज्ञान बढ़ाने में कुछ कम योग नहीं दिया था। दर्शन में यदि भारतीय विद्वान अन्य सब देशों से आगे बढ़े हुए थे, तो अंकगणित, ज्यामिति, ज्योतिष, रसायन और भौतिक विज्ञान में भी वे दूसरों से पीछे नहीं थे। अनेक वैज्ञानिक तथ्यों का आविष्कार इसी भारत भूमि में हुआ था, परन्तु बाद में जब देश का अवनति-काल आरम्भ हुआ, तब भारतीयों ने विज्ञान की ओर से ऐसा मुंह मोड़ा कि संसार के अनेक लोगों की यह धारणा हो गई कि वैज्ञानिक खोज के लिए भारतीय सर्वथा असमर्थ हैं। जिस समय संसार में यह भ्रांति दृढ़ हो रही थी, उसी समय आचार्य जगदीश चन्द्र बसु ने अन्वेषण की ज्योति जगाकर थोड़े ही दिनों में अपने आविष्कार से यह सिद्ध कर दिया कि वैज्ञानिक अनुसन्धान और आविष्कार केवल यूरोपियनों की पैतृक सम्पत्ति नहीं है, भारतवासी भी इस दुर्गम मार्ग में उनसे कंधा भिड़ाकर चल सकते हैं।

आचार्य जगदीश चन्द्र बसु का जन्म १८५८ ई० में ढाका जिले के राढाखाल नामक ग्राम में हुआ। कलकत्ते के सेंट जेवियर कॉलेज से बी० ए० की परीक्षा पास करके वे इंग्लैंड गये। वहाँ केम्ब्रिज से बी० ए० की, और लंदन से बी० एस-सी० की परीक्षाएँ पास कीं। भारत लौटने पर वे कलकत्ते के प्रेसीडेंसी कॉलेज में भौतिक विज्ञान के अध्यापक नियुक्त हुए। कॉलेज में भौतिक-विज्ञान के अध्यापन का कार्य करते हुए उन्होंने वैज्ञानिक अनुसंधान करना आरम्भ किया। उनके जीवन-त्याग और निष्ठा की एक अमर कहानी है। हम यहाँ उनके आविष्कारों की ही चर्चा करना चाहते हैं।

पहले उन्होंने बिजली की अदृश्य किरणों के विकीरण-संबंधी कुछ ऐसे आविष्कार किये जिन्होंने समस्त वैज्ञानिक-संसार को आश्चर्य-चकित कर दिया। इन आविष्कारों में वायरलैस—बेतार के तार—संबंधी आविष्कार भी थे। बसु महाशय के आविष्कारों से संसार के विद्युत् विज्ञान को अग्रसर होने में काफी सहायता मिली।

हम लोग यह जानते हैं कि जब हम बिजली की धारा को स्पर्श करते हैं, तब हमें धक्का लगता है। इसका अर्थ यह हुआ कि बिजली की धारा से हमारे अवयवों में एक प्रकार की गति होती है, एक प्रकार का प्रत्युत्तर मिलता है। बसु महोदय ने अपने बिजली सम्बन्धी अनुसन्धान में यह लक्ष्य किया है कि विद्युतधारा के प्रति इस प्रकार का प्रत्युत्तर केवल जीवित प्राणियों में ही नहीं मिलता, वरन् निर्जीव और जड़ पदार्थों में भी मिला करता है। यह देखकर उन्होंने जड़ और चेतन की एकता पर विचार करना आरंभ किया। क्या इस संसार में जड़ और चेतन का कोई नियम काम करता है, या यहाँ केवल गड़बड़-घोटाला ही है? इस पृथ्वी पर जीवन का आविर्भाव कैसे हुआ? जिस समय पृथ्वी अत्यन्त गरम, अध-पिघली दशा में थी, उस समय उस पर किसी भी प्रकार का जीवन, असंभव था। कुछ लोग कहते हैं कि ब्रह्मांड के अन्य नक्षत्रों से धूल के कण इस पृथ्वी पर आये, जिनमें जीवन का बीज मौजूद था और उन्हीं से इस पृथ्वी पर जीवन का प्रादुर्भाव हुआ। इस कारण जीवन की पहेली और भी दुरूह होकर दूसरे ही लोक में पहुँच जाती है।

बसु महोदय ने जड़ और चेतन की पहेली का अध्ययन शुरू किया। उन्होंने देखा कि जड़ पदार्थ में भी बाहर से उत्तेजना दी जाने पर प्रत्युत्तर मिलता है। अत्यधिक उत्तेजना पाकर वह थक जाता है और कुछ काल तक विश्राम करने के बाद पुनः ज्यों का त्यों हो जाता है। पुराने सेप्टी रेज़र ब्लेड में कुछ दिन के आराम के बाद फिर धार आ जाती है। कुछ विशेष उत्तेजक द्रव्यों के द्वारा प्रत्युत्तर की यह शक्ति बहुत बढ़ जाती है तथा इसके विपरीत कुछ जहरीले द्रव्य देने पर प्रत्युत्तर एकदम बंद हो

जाता है। ठीक उसी प्रकार यह ज्ञात हुआ कि जड़ और चेतन में होने वाली प्रतिक्रिया में विपरीतता कम और सादृश्य अधिक है। अतः इस पृथ्वी के कणों में—जिन्हें निर्जीव या जड़ कहते हैं—शायद सुप्त जीवनी शक्ति व्याप्त है। पृथ्वी के किसी बाल-युग में विशेष परिस्थितियों के एकत्र हो जाने के कारण, इन्हीं जड़ परमाणुओं में छिपी हुई वह जीवन शक्ति विकसित होकर चेतन रूप में प्रस्फुटित हुई होगी।

आचार्य वसु ने देखा कि लोहा, मिट्टी, पत्थर आदि जड़ पदार्थों और जलचर, थलचर आदि चेतन प्राणियों के बीच में है उद्भिज। संसार में वनस्पति उगते हैं, हिलते-डुलते हैं, फलते-फूलते हैं। अतः वे पत्थर, मिट्टी आदि जड़ पदार्थों से भिन्न हैं। लेकिन हिलने-डुलने पर भी वे अचल हैं, जीवों की भाँति वे चलते-फिरते, कूदते-फाँदते नहीं, और न उनके अंग-प्रत्यंग में अन्य जन्तुओं की तरह स्पंदन ही दीख पड़ता है। आचार्य वसु ने उद्भिज संसार का अध्ययन करके पता लगाया कि चारों ओर की परिस्थिति का परिवर्तन जंतुओं पर जो प्रभाव डालता है, वही प्रभाव वृक्षों पर भी डालता है। मान लीजिये यदि किसी जंतु के शरीर में चाकू घुसेड़ दिया जाय, तो वह पीड़ा से छटपटाने लगेगा। ठीक इसी प्रकार किसी पेड़ में चाकू भोंकने से उसे भी पीड़ा और छटपटाहट होती है। हम उसे इसलिए नहीं जान पाते कि पेड़ के भीतरी भाग में क्या हो रहा है, हम यह देखने में असमर्थ हैं।

इस अनुसंधान में वैज्ञानिकों के लिये अनेक कठिनाइयाँ थीं। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिये वसु महोदय ने पहले तो इस बात की चेष्टा की कि वृक्ष स्वयं अपना जीवन-वृत्तांत प्रकट कर सकें। उन्होंने वृक्षों को लगातार एक-सी शक्ति के कुछ दहलानेवाले धक्के पहुँचाए। साथ ही उनमें ऐसे यंत्र लगा दिये, जो उनमें उत्पन्न होने वाली उत्तेजना को अंकित कर सकें। इस प्रकार देखा गया कि जब उन्हें कोई उत्तेजक द्रव्य देकर धक्का पहुँचाया जाता है तब उनका प्रत्युत्तर बहुत स्पष्ट होता है और जब शिथिल अवस्था में धक्का पहुँचता है, तब प्रत्युत्तर उतना स्पष्ट नहीं होता।

दूसरी कठिनाई को दूर करने के लिये बसु महाशय ने कुछ ऐसे यंत्रों का आविष्कार किया जो सूक्ष्म से सूक्ष्म हरकतों तक को ग्रहण कर सकें। अणुवीक्षण यंत्र सूक्ष्म वस्तु को बड़ा बनाकर दिखाता है। सबसे शक्तिशाली अणुवीक्षण यंत्र किसी वस्तु को अपने वास्तविक आकार से ३००० गुना से अधिक नहीं बढ़ा सकता, किन्तु वृक्षों का 'स्पंदन देखने में अणुवीक्षण यंत्र को भी असमर्थ पाकर बसु महाशय ने 'मैग्नेटिक क्रेस्कोग्राफ' नामक यंत्र का आविष्कार किया। यह यन्त्र किसी भी गति को एक करोड़ गुना अधिक बढ़ाकर दिखला सकता है। जब जगदीश चन्द्र ने अपने इस यन्त्र को वैज्ञानिकों के सामने रक्खा तब उन्हें इसकी विराट शक्ति पर विश्वास ही नहीं हुआ। लंदन रॉयल सोसायटी ने प्रसिद्ध वैज्ञानिकों की एक कमेटी बिठा कर इस यंत्र की परीक्षा कराई। कमेटी ने जाँच करके बताया कि जगदीश चन्द्र बसु का दावा एकदम सही है।

इसी प्रकार डाक्टर बसु के विज्ञान मंदिर में अनेक सूक्ष्म-बोध यन्त्र बनाये गए हैं। 'रेजीनेट रेकार्डर' नामक यन्त्र एक सेकंड के हजारवें हिस्से तक की हरकतों को अपने आप अंकित कर देता है। इसके द्वारा वृक्षों के तंतुओं में दौड़नेवाली उत्तेजना की गति नापी जा सकती है। मोटे दृष्टांत के रूप में यों समझिए : मान लीजिए आपका पैर किसी काँटे पर पड़ा। काँटा गड़ते ही आपने तुरंत पैर हटा लिया। जैसे ही आपके पैर में काँटा गड़ता है, वैसे ही तलवा इस खतरे की खबर देता है। यह खबर शरीर के तंतुओं में दौड़ती हुई दिमाग में पहुँचती है। दिमाग तुरंत ही पैर हटाने का हुक्म भेजता है और आप पैर हटा लेते हैं। ये सब क्रियाएँ इतनी शीघ्रता से होती हैं कि आपको पता ही नहीं चल पाता। इस यंत्र के द्वारा यह जाना जा सकता है कि पैर से दिमाग तक खबर जाने अथवा दिमाग से पैर तक हटने का हुक्म पहुँचाने में कितनी देर लगती है और खबर किस गति से चलती है। डॉ० बसु के इस यन्त्र को पौधों में लगा कर देखते हैं तो जान पड़ता है कि अनुभूति की यह क्रिया जंतुओं के समान ही होती है। इसी प्रकार 'फ़ाइटोग्राफ' यंत्र के द्वारा पेड़ों में इसके

चढ़ने की नाप-जोख होती है। इसी प्रकार और भी अनेक यंत्र बसु महाशय ने बनाए हैं। इन यन्त्रों की विशेषता यह है कि पेड़ों में लगा देने पर ये सब-के-सब अपनी-अपनी नाप-जोख को स्वयं ही अंकित करते हैं। यद्यपि ये यन्त्र संसार भर के सबसे अधिक सूक्ष्मबोध यन्त्रों में हैं, फिर भी ये सब भारतीय वस्तुओं से भारत में ही—बसु महोदय के विज्ञान-मंदिर में—निर्मित हुए हैं।

तीसरी कठिनाई, जिसने वृक्षों का जीवन समझने में सबसे अधिक भ्रमेल उत्पन्न कर रखा था, प्राणियों के बाह्य अंगों के आकार को अत्यधिक महत्व देना है। जिस समय हम कहते हैं कि वृक्षों में भी जंतुओं के समान जीवन है, उस समय हम तुरंत ही यह पूछने लग जाते हैं कि वृक्ष सजीव हैं, तो उनका मुंह कहाँ है, आँखें कैसी हैं, उनके कान कौनसे हैं और हाथ पैर किधर हैं? हम इस बात पर ध्यान नहीं देते कि विभिन्न अङ्गों—इंद्रियों की जरूरत वे पूरी कर लेते हैं या नहीं? उनके कार्यों के साधक अंगों पर ध्यान न देकर हमें उनके कार्यों पर ध्यान देना चाहिए।

वृक्ष और जीवों की समता समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि जीवित समझे जाने के लिए जंतुओं में कौनसे गुण होने चाहिए। क्या गुण वृक्षों के तंतुओं में भी पाए जाते हैं? मोटे हिसाब से वृक्षों के दो भेद देखे जाते हैं। साधारण और संवेदनशील। अधिकतर वृक्ष साधारण कोटि के होते हैं। दूसरी कोटि के वृक्षों में लज्जावती (छुईमुई) जाति के कुछ पौधे हैं। एक पत्ता छूते ही लज्जावती के पत्ते सिकुड़ जाते हैं। ऐसा ही संकुचन जानवरों की शिराओं में होता है। इस वर्ग के पौधों के अतिरिक्त अधिकांश वृक्षों में ऐसा संकुचन नहीं होता।

परंतु इसका अर्थ यह न समझना चाहिए कि जो वृक्ष लज्जावती की तरह संवेदनशील नहीं होते उनमें अनुभूति ही नहीं होती। बसु महोदय ने यह दिखला दिया है कि वृक्षों के अवयवों में बिजली की उत्तेजना से ठीक वैसी ही प्रतिक्रिया होती है, जैसी जंतुओं के स्नायुओं में। बिजली की यह पहचान बड़ी विश्वसनीय है। जीवित अवस्था में जंतुओं के शरीर

पर इसका कोई प्रभाव नहीं दीख पड़ता। बसु महाशय के 'इनफ़िनिटिसिमल कॉन्ट्रैक्शन रेकॉर्डर' नामक यंत्र से यह प्रत्यक्ष देख पड़ता है कि वृक्षों के कोषाणुओं में वैसा ही संकुचन होता है जैसा मानव शरीर के कोषाणुओं में।

जन्तुओं के शरीर के विभिन्न अंगों में अनुभूति का संचालन होता है स्नायु, अर्थात् ज्ञान तंतुओं के द्वारा। पहले वैज्ञानिक यह समझते थे कि वृक्षों में अनुभूति के ढंग की वस्तु नहीं होती। इस प्रश्न के समाधान में सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि इस प्रकार का कोई यंत्र नहीं था, जो इस संचालन की गति को नाप सके। डॉ० बसु ने अपने 'रेजेमेंट रेकॉर्डर' नामक यन्त्र का आविष्कार करके वह कठिनाई दूर कर दी। वृक्षों में अनुभूति का संचालन ठीक उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार अन्य जीवित प्राणियों में। किसी मनुष्य के पैर में चुटकी काटने से उसकी खबर दूर-स्थित दिमाग को तुरंत हो जाती है। डॉ० बसु के उपर्युक्त यंत्र से यह बात भली-भाँति सिद्ध हो जाती है।

हम जानते हैं कि आजकल डॉक्टर लोग ऑपरेशन करते समय जिस अंग में ऑपरेशन करना होता है, उसके समीप एक प्रकार का कोकेन का इंजेक्शन दे देते हैं। इससे वह अंग-विशेष सुन्न-सा पड़ जाता है और ऑपरेशन की पीड़ा नहीं होती। इसी प्रकार अत्यधिक शीत से भी अंग सुन्न पड़ जाते हैं। डॉ० बसु ने वृक्षों में भी यही बात पाई है। अत्यधिक शीत से या क्लोरोफ़र्म सरीखी औषधि या विष प्रयोग से वृक्षों में भी अनुभूति का संचालन रुक जाता है। डॉ० बसु ने 'आसिलेटिंग रेकॉर्डर' यंत्र बना कर यह सिद्ध कर दिखाया है कि वृक्षों में भी प्राणियों की नाड़ियों के स्पंदन का सा ही स्पंदन होता है।

वृक्षों के रस खींचने की क्रिया के संबंध में भी वैज्ञानिकों में बड़ी भ्रान्ति फैली थी। कुछ कहते थे कि पत्तियों के ऊपर से भाप बन कर उड़ने से वे नीचे से रस खींचती हैं और नीचे से जड़ों का दबाव रस को ऊपर की ओर ठेलता है। किंतु इस धारणा से सारी शंकाओं का समाधान नहीं होता था। 'यूकेलिपटस' का पेड़ साढ़े चार सौ फीट ऊँचा होता है।

इतनी ऊँचाई तक केवल जड़ के दबाव से रस पहुँचना असम्भव है। डॉ० बसु ने यह सिद्ध कर दिया कि रस चढ़ना वृक्षों के जीवन की एक क्रिया है। यह देखा जाता है कि जिस समय तक रस चढ़ता रहता है, उस समय तक वृक्ष की पत्तियाँ तनी हुई रहती हैं और जब रस का चढ़ना बंद हो जाता है, तब वे शिथिल होकर नीचे लटक जाती हैं। डॉ० बसु ने पत्तियों के इस रस के उठने बैठने का नियमित रूप से अंकित करने का साधन व्यवहार करके अपना कथन सिद्ध कर दिखाया था। वे 'ल्यूपिन' वृक्ष की ऐसी टहनी तोड़ लेते थे, जिसकी पत्तियाँ किसी क्रदर सूखने से शिथिल हो कर लटक चुकी हों। फिर वे उन पर वेसलीन लगाते थे, जिससे पत्ती की सतह पर से भाप न उठ सके। तब इस पत्ती से न तो भाप ही उठती थी, जो रस को ऊपर खींचती और न उसका संबंध जड़ से ही होता था, जो रस को नीचे से ऊपर को ठेल सकती। फिर भी जब वे पत्ती के डंठल को उत्तेजना-जनक औषधि के घोल में डालते थे, तब पत्ती बड़ी तेजी से ऊपर उठ जाती थी। पहले वैज्ञानिक यह समझते थे कि पत्ती के डंठल में महीन छेद होते हैं। दबाव के कारण पानी या रस इन्हीं छिद्रों से ऊपर चढ़ जाता है, जिससे पत्तियाँ तन जाती हैं। लेकिन डॉ० बसु ने यह दिखलाया कि यदि तनी हुई पत्तियों का डंठल किसी जहरीले घोल में डुबो दिया जाता है, तो पत्तियाँ तुरन्त ही एकदम शिथिल होकर लटक जाती हैं। इससे प्रकट होता है कि रस का चढ़ना पेड़ों के जीवन में प्रायः वैसा ही स्थान रखता है जैसा जंतुओं के शरीर में रक्त का संचार।

वृक्षों की वृद्धि-गति इतनी सूक्ष्म है कि उसका पता चलना मुश्किल है। वे एक सेकेंड में एक इंच का एक लाखवाँ हिस्सा बढ़ते हैं। भला सोचिए तो सही! लेकिन डॉ० बसु के 'क्रैफ़कोग्राफ़' नामक यंत्र से इसका भी पता बड़ी आसानी से लग जाता है।

डॉ० बसु के इन आविष्कारों ने वृक्षों के शरीर-विज्ञान के संबंध में क्रांतिकारी परिवर्तन कर दिये हैं। उन्होंने अपनी समस्त सम्पत्ति देकर

कलकत्ते में बसु विज्ञान मंदिर की स्थापना की थी। वहाँ पहुँच कर एक प्रसिद्ध विदेशी विज्ञानवेत्ता कह उठे थे, “यह तो परियों के तिलिस्म से भी अधिक आश्चर्यजनक है।” वास्तव में वह जीता-जागता तिलिस्म है !

अभ्यास के प्रश्न

- १। लेखक ने आचार्य जगदीश चन्द्र बसु के आविष्कारों को ‘जीता-जागता तिलिस्म’ किस अर्थ में कहा है ?
- २। आचार्य बसु के प्रधान आविष्कारों और मुख्य यंत्रों का सरल भाषा में परिचय दीजिए।
- ३। ‘डॉ० बसु के इन आविष्कारों ने वृक्षों के शरीर-विज्ञान के संबंध में क्रांतिकारी परिवर्तन कर दिए हैं।’—इस कथन का समर्थन करते हुए बताइए कि वनस्पति और जन्तु जगत् को किन समानताओं पर बसु महोदय ने प्रकाश डाला है ?
- ४। निम्नलिखित शब्दों के अर्थों में जो अन्तर छिपा हुआ है, उसे स्पष्ट कीजिए :— अनुसंधान और आविष्कार, जड़ और सुप्त, ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ, उत्तेजना और प्रत्युत्तर।
- ५। नीचे लिखे हुए समस्त पदों का विग्रह करते हुए उनमें निहित समासों के नाम बताइए :—ज्ञानतंतु, वाचक-यंत्र, उठना-बैठना।

माँ का हृदय

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

मध्याह्न का समय था। हममें से कुछ स्नान कर चुके थे, कुछ भोजन की पूर्व तैयारी अर्थात् स्नान कर रहे थे। उधर से एक 'माँ' बेतहाशा बड़ी ही व्यग्रता के साथ आती दिखाई दी। वह रो रही थी, चिल्ला रही थी। उसका रोना विवशता का रोना न था; उसका रोना प्रतिशोध की भावना से भरा था। वह आई और जहाँ पर हम लोग स्नान कर रहे थे—जहाँ पर हमारी भोजनशाला थी—ठीक उसके सामने आकर बैठ गई। उसकी गोद में उसका लाल था, उसकी छाती का टुकड़ा, जिसे संसार में आये कदाचित्त एक वर्ष न हुआ था। वह रोती थी, चिल्लाती थी और कारण पूछने पर अपना बच्चा दिखाती थी। हम लोगों का नहाना धोना छूट गया, जो खाने जा रहे थे, उनका खाना हराम हो गया। क्या वजह है, आखिर इसे हुआ क्या? कुछ डरा कर, कुछ धमका कर, कुछ सहानुभूति दिखाकर उसे बड़ी मुश्किल से चुप कराया गया। मालूम होता था लगातार चिल्लाते-चिल्लाते वह कुछ थक भी गई थी। नहीं तो क्या मजाल कि हम उससे उसके रोने का कारण जान पाते। जब कहीं जान पाये तो पता लगा कि उस बच्चे की वह 'माँ' आज ही हमारे औषधालय से कोई दवाई ले गई थी, और जब से उसने वह दवाई पिलाई है तभी से लड़का बेहाल है, सिसकियाँ ले रहा है और माँ का ख्याल है कि बच्चा कुछ घड़ियों का मेहमान है। हम लोग किकर्तव्यविमूढ़ थे, क्या करें, क्या न करें? ऐसे समय ही पता लगता है कि वास्तव में मानव कितना बेबस है।

अस्पताल बंद हो चुका था; डॉक्टर, कम्पाउंडर कोई नहीं था। तुरंत एक कर्मचारी को साइकिल पर दौड़ाया कि कम्पाउंडर को जल्दी से जल्दी

लिवा लाये। कम्पाउंडर आया, उसने आते ही लड़के की हालत देख कर पूछा—“पानी पिलाया है?” माँ ने सिर हिला दिया। “पगली कहीं की, हल्ला मचाया है, लड़का पानी न मिलने से सिसकियाँ भर रहा है”, कहते हुए उन्होंने ज़रा-सा पानी मँगाकर लड़के के गले के नीचे उतारा। पानी मुँह में जाते ही लड़के की आँखें खुल गईं, सिसकियाँ बंद हो गईं और ‘माँ का हृदय’? वह लेखनी ही अभी पैदा नहीं हुई, जो माँ के हृदय की उस अवस्था का वर्णन कर सके जो अपने बच्चे के चाँद से खिलते मुखड़े को देख कर उसकी हुई।

×

×

×

×

मुझे इतना ही याद है कि मैं उस समय शिशु न था, बालक था और बालक भी ऐसा कि कुछ कुछ लड़का हो चला था। मेरे माता-पिता न दरिद्र थे, न धनी। हाँ, संतोष धन की उनके पास कमी न थी। जिस शहर में मेरा बचपन बीता, वह इतना बड़ा नहीं था कि उसे शहर कहा जा सके और इतना छोटा भी नहीं कि उसे कस्बा कहा जा सके। वह एक शहर की छावनी थी—मुख्य रूप से फ़ौजी सिपाहियों का डेरा।

हमारे घर के सामने जो पक्की सड़क थी, उसके दूसरी ओर एक अहाता था। उस अहाते में प्रायः ईंटों के ढेर पड़े रहते थे। अवश्य वह कोई न कोई मकान बनाने के ही उद्देश्य से वहाँ लाई जाती थीं, लेकिन ऐसा मकान जो प्रायः बनता नहीं था। मुहल्ले भर के लड़कों का, वह अहाता, खेल का मैदान था। छुट्टी का दिन हो तो दिन भर, नहीं तो शाम को तो हम सब लोगों का जमावड़ा रोज़ की बात थी। हम लोग मिलकर उन ‘बेकार’ पड़ी ईंटों का बड़ा सा क़िला बनाते। आलौदार चहारदीवारी—जब चाहो बना लो, जब चाहो मिटा दो। अन्दर ईंटों की ही कुर्सियाँ बनतीं। उन पर राजा बैठते, मंत्री बैठते, प्रधान सेनापति बैठते और हाँ, राजा की रानी भी।

एक दिन सूर्योदय होते-होते हम लोगों का दरबार लग गया। विचारणीय विषय यह था कि शत्रुपक्ष से लड़ने के लिये कौन-कौन नये शस्त्र काम

में लाए जा सकते हैं ? हमारे प्रधान सेनापति का प्रस्ताव यह था कि किसी शेर का पंजा काट लाना चाहिए, क्योंकि उसके नाखून बड़े ही तेज होते हैं, और लड़कों की लड़ाई में कोई दूसरा शस्त्र उसका मुकाबला नहीं कर सकता। इस योजना के सामने हमारे आलपिन, हमारे ईट-पत्थर, हमारे छोटेमोटे चाकू, हमारे सब शस्त्र निकम्मे थे। और शेर का पंजा काट लाने जैसा आसान काम तो हम लोगों को दूसरा मालूम न देता था।

जिस समय हम लोग अपने प्रस्ताव पर गंभीरतापूर्वक विचार कर रहे थे, एक ओर से आवाज आई 'बलवा' हो गया। कैसे हुआ, क्या हुआ, इन सबकी जानकारी की हमें जरूरत नहीं थी। मनुष्य की आत्म-रक्षा की सहज-प्रवृत्ति ने हमें इतना सुना दिया कि यह जिधर सींग समायें उधर भाग निकलने का समय है। क्षण भर में हमारा राज-दरबार उजड़ गया। किले की चहारदीवारी गिर गई। जिधर जिसका मुंह था उधर ही वह भागा। कौन किधर भागा, इसकी एक दूसरे को बिल्कुल खबर न लगी। इन पंक्तियों के लेखक ने पिछली तरफ मुड़कर देखा ही नहीं—एक गली, दूसरी गली, तीसरी गली, न जाने कितनी गलियाँ लांघ गया। आखिर हाँफते-हाँफते एक मुहल्ले में एक परिचित के घर पहुँचा। दरवाजा बंद था। खटखटाते ही खुल गया। उन्होंने कोई 'घर का आदमी' समझ कर दरवाजा खोला, तो भी मेरा 'घर के आदमी' की तरह ही स्वागत किया। सुबह के नौ दस बजे से लेकर शाम के पाँच-छः बजे तक मैं उसी घर में कैद रहा।

वहाँ बैठे-बैठे सुनता रहा कि सिपाहियों ने अमुक बाजार लूट लिया है, अब अमुक। अब अमुक को मार डाला है, अब अमुक को। कैसे दुबक कर बैठे रहना पड़ा उस दिन! घर की याद आती थी बार-बार। यही सोच कर संतोष था कि जैसे मैं यहाँ दुबक कर बैठा हूँ, वैसे ही घर पर लोग ताला बन्द किये सुरक्षित बैठे होंगे। बीच-बीच में जाने का नाम लेता, तो लोग न जाने देते। कहते, "अभी सिपाही घूम रहे हैं।" शाम को पाँच-छः बजे बाद उन लोगों ने घर से बाहर निकलने दिया।

संध्या होते-होते मैं घर पहुँचा—वैसे ही भागता हुआ और छिप-छिप कर, जैसे आया था। यद्यपि शहर में अब शांति थी, लेकिन मुझे अभी भी डर लग रहा था। सोचता था, 'ना जाने केहि रूप में नारायण मिल जायँ।' आखिर घर पहुँचा। देखता क्या हूँ, 'माँ' घर पर नहीं हैं। बहन ने और पास-पड़ोस के लोगों ने बताया कि वे मुझे ढूँढ़ने गई हैं। मैं बिलख-बिलख कर रोने लगा। माँ मुझे ढूँढ़ने गई हैं, मैं उन्हें ढूँढ़ने कहाँ जाऊँ? एक तो पता नहीं कि कहाँ गई। दूसरे यदि मैं उन्हें ढूँढ़ने निकलूँ, तो वह लौट आकर भी मुझे न पाएँगी। पड़ोसियों ने बताया कि वह सुबह से शहर भर में चक्कर काट रही हैं। एक उस परिचित को छोड़कर जिसके यहाँ मैं छिपा था, शेष सभी परिचितों के यहाँ हो आई हैं। प्रत्येक घंटे, डेढ़ घंटे पर घर आती रही हैं और मुझे नदरत देखकर फिर बाहर निकल जाती रही हैं। मैंने तो पूरी खाई, पराठे खाए और मिठाई खाई। उन्होंने न अन्न ग्रहण किया है न जल। उस समय मेरी जो अवस्था हुई उसकी याद मन पर लाने से, इस समय भी आँखें भींगी जा रही हैं। पास-पड़ोसियों ने मुझे माँ को ढूँढ़ने न जाने दिया। यही कहते रहे 'अब आती होंगी, अब आती होंगी'। जब मेरे लिए और प्रतीक्षा करना एक दम असह्य हो गया और लोग पकड़-पकड़कर मुझे बाहर जाने से रोक रहे थे, माँ सीढ़ियों से चढ़ती आती मालूम दीं। बेटे ने माँ की आहट पहचान ली, और माँ ने बेटे की ध्वनि। माँ बेटा दोनों बिलख-बिलख कर रोने लगे। न रोते तो जाने उनका क्या हाल होता !

×

×

×

उक्त दोनों घटनाएँ—एक अभी ताज़ी, एक कम-से-कम पच्चीस वर्ष पुरानी—बार-बार मानस पटल पर आकर उस समय मँडराने लगीं, जिस समय आज "अंगुत्तर-निकाय" (पाली) में मैंने भगवान् बुद्ध का निम्नलिखित प्रवचन पढ़ा—

“भिक्खुओ, दो जनों के उपकार का बदला आसानी से नहीं दिया जा सकता—माता के उपकार का और पिता के उपकार का। यदि कोई अपने एक कंधे पर माता को और दूसरे पर पिता को लेकर फिरे और सौ वर्ष

तक उनका नहलाना, धुलाना, पैर दबाना इत्यादि करे तो भिक्षुओ, इतने से भी न माता-पिता के प्रति यह कोई उपकार होता है न उनके उपकार का बदला। और भिक्षुओ, यदि कोई अपने माता-पिता को इस सारी पृथ्वी का राजा भी बना दे, तो भी भिक्षुओ, न माता-पिता के प्रति यह कोई उपकार होता है न उनके उपकार का बदला ! यह क्यों ? भिक्षुओ, माता-पिता का बहुत उपकार है। माता-पिता ने जन्म दिया है, माता-पिता ने पोषण किया है, माता-पिता ने ही हमें यह दुनिया दिखाई है।”

अभ्यास के प्रश्न

- १। लेखक ने जिन दो घटनाओं के भीतर से माँ के हृदय का चित्र खींचा है, उनका अपने शब्दों में वर्णन कीजिए।
- २। इस रचना में हमें कौन-सा सन्देश दिया गया है ?
- ३। अपने अनुभव को किसी ऐसी घटना का वर्णन कीजिए, जिसमें आपको माँ के हृदय का परिचय मिला हो।
- ४। निम्नलिखित शब्दों और मुहावरों के अर्थ लिखते हुए उनका वाक्यों में प्रयोग कीजिए :—
बेतहाशा, प्रतिशोध, खाना हराम होना, बेहाल, कुछ घड़ियों का मेहमान, किकर्तव्यविमूढ़, जिधर सींग समायें उधर भागना।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

स० ही० वात्स्यायन

आप अगर बीसवीं सदी में किसी भी अच्छे स्कूल में पढ़े होंगे या पढ़ने होंगे, तो आपने सीखा होगा कि साम्राज्यवाद एक बुरी चीज है, और यह भी कभी सुना ही होगा कि राष्ट्रीयवाद भी बुरी नहीं तो खतरनाक चीज जरूर है, और इसके सबूत में आजकल के सभ्य कहलाने वाले बहुत से राज्यों की मिसाल भी आपके सामने पेश की गई होगी।

साम्राज्यवाद को सफाई तो कोई भी नहीं दे सकता, पर राष्ट्रीयवाद के हक में इतना जरूर कहा जा सकता है कि हर देश के जीवन में ऐसा जमाना आता है या आ सकता है जब उसके सुधार का ही नहीं, उसकी प्राणरक्षा का भी एक ही जरिया रह जाता है —राष्ट्रीयवाद। एशिया की तो कुछ पूछिए मत, यूरोप में भी ऐसे देश हैं जो इसी के सहारे उस दीनहीन अवस्था से उठ सके हैं, जिससे उनके निकलने की किसी दिन कोई कल्पना भी नहीं करता था।

यह मैंने इसलिए याद दिलाया कि आज मैं जिस महान पुरुष का जिक्र करूँगा, उसके जीवन या कार्य को ठीक पृष्ठभूमि के साथ ही पेश करना चाहिए, नहीं तो आप शायद सोचें कि इसकी बात कहना क्यों जरूरी समझा गया ? बात यह है कि वैसे तो यह महान पुरुष—जिसका नाम था महावीर प्रसाद द्विवेदी—राजनीति की खींचतान से बिल्कुल अलग था, और आजकल राजनीति की कुछ ऐसी हवा चली हुई है कि बिना उसके जरिए आगे आए कोई बड़ा आदमी ही नहीं हो सकता ! तो मैं यही समझना चाहता हूँ कि अपने ढंग से आज भारत के राजनीतिक जीवन में भी इस आदमी का अपना स्थान है। राष्ट्रीय जागृति तभी ताकत पाती है, तभी

कारगर होती है, जब उसके पीछे संस्कृति की जागृति हो, और यह तो आप जानते ही हैं कि किसी भी संस्कृति की जान उसके साहित्य में, यानी उसकी भाषा में है। इसी बात को हम यों कह सकते हैं कि बिना संस्कृति के राष्ट्र नहीं, और बिना भाषा के संस्कृति नहीं। और महावीर प्रसाद द्विवेदी ने देश के जीवन की इस बुनियाद की भी बुनियाद के लिए जो किया, वह इस जमाने में कम लोगों ने किया है। कुछ लोग ऐसा समझ सकते हैं कि उन्होंने भाषा के लिए नियम ही ज्यादा बनाए, उसे बाँधा ही ; उसमें जान नहीं फूँकी, इसलिए बड़ी बात नहीं की। लेकिन ऐसे लोगों को समझना चाहिए कि बिगुल बजा कर सिपाही को जगाने और जोश दिलाने वाले का काम जितना महत्व रखता है, कम से कम उतना ही महत्व उस आदमी का भी है जो सिपाही को ठीक ढंग से वर्दी पहना कर और कदम मिला कर चलने की तमीज़ सिखाता है। संस्कृति की चेतना को जगाने के काम में तो रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कोई क्या बराबरी करेगा, लेकिन उसे संगठित करने के काम में महावीर प्रसाद द्विवेदी का स्थान किसी से दूसरा नहीं है।

यों हिन्दी भाषा और उसके ज़रिए प्रकट होने वाली संस्कृति ऐसी नई नहीं है। दोनों को परम्पराएँ सदियों से चली आती हैं। इतिहास पढ़ने वाले जानते हैं कि जिस भाषा और संस्कृति का आसरा लेकर अशोक और समुद्रगुप्त का एक राष्ट्र खड़ा हुआ था, उस भाषा और उस संस्कृति की परम्परा इतिहास के तीनों कालों में बनी रही है और अभी तक अटूट चली आ रही है, हालाँकि राष्ट्र की एकता कई बार टूटी और बनी और फिर टूटी और फिर बनी है। लेकिन पीछे हिन्दी भाषा और उसका साहित्य एक लीक में पड़ गए थे और उसी को पीटते चले आ रहे थे। अगर यही सिलसिला जारी रहता तो सदियों का किया हुआ काम सौ-पचास साल में मिट जाता और हिन्दी गिर कर सिर्फ एक सूबे की भाषा रह जाती। इस संकट से उसे महावीर प्रसाद द्विवेदी ने बचाया ही नहीं, उसे एक नई शक्ति और नई गति दी।

उन्नीसवीं सदी के अन्त में जो जागृति और सुधार की हलचल दिखी, उसने धर्म और राजनीति के अलावा भाषा और साहित्य पर भी असर डाला। हिन्दुस्तान जैसे बड़े देश में यह हलचल सब जगह एक जैसी नहीं हो सकती थी, और हम देखते हैं कि जहाँ बंगाल से रूढ़ियों के खिलाफ हृदय की और भाव की पुकार उठी, वहाँ महाराष्ट्र और गुजरात की ओर से दिमाग और तर्क का आसरा लिया गया। इन दोनों से कई तरह के फ़ायदे हुए जो यहाँ गिनाने की जरूरत नहीं, लेकिन जहाँ तक साहित्य का सवाल है, इन दोनों प्रवृत्तियों में उसके लिए फ़ायदे के साथ अंदेशा भी बना रहता। हिन्दी के लिए इस खतरे को पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने ही पहचाना और मिटाया। जहाँ एक तरफ़ सुधार का मतलब यह बन रहा था कि भाषा केवल उच्छ्वास का, दिल का गुबार निकालने का साधन बन जाय, और दूसरी ओर सुधार के नाम पर उसकी शुद्धि करके उसे संस्कृत के नियमों पर चलाने की कोशिश की जा रही थी, वहाँ इन्होंने इस पर जोर दिया कि भाषा संयत, उचित, साफ़ और सहल हो। सुधार का जोश उनमें भी कम नहीं था, लेकिन वे बखूबी समझते थे कि वही सुधार काम का होगा जो भाषा को बोलचाली ज़बान के नज़दीक लाए और रखे, और साथ ही उसमें इतनी ताकत और इतना संयम भर दे कि वह कविता और विवेचन और विज्ञान के लिए भी उपयुक्त हो—उसमें फ़ुर्ती खूब हो लेकिन शान भी कम न हो। एक समूची भाषा को नए ढंग में ढालना एक आदमी के लिए आसान काम नहीं होता, तिस पर जब आसपास के लोग उसका मक़सद न समझते हों और विरोध करने को तैयार हों तब तो कठिनाइयाँ सौ गुनी हो जाती हैं। और कोई होता तो हारकर रह जाता पर द्विवेदी जी दूसरी मिट्टी के बने थे। सन् १९०३ से—जब से उन्होंने इलाहाबाद की 'सरस्वती' के सम्पादन का ज़िम्मा लिया तब से—उन्होंने उसी के ज़रिए अपना काम जारी रखा और पंद्रह सोलह साल तक उसमें जुटे रहे। उनकी लगन का कुछ अन्दाज़ इसी बात से लग सकता है कि एक अकेले शब्द की पड़ताल में उन्होंने छः मास लगा दिए। 'सरस्वती' के पहले छः

वर्ष तो हिन्दी को व्याकरण के सहारे माँजने में ही लग गए। पहले-पहल उन्हें मन के लेखक नहीं मिलते थे, और उन्हें सारे लेख खुद लिखने पड़ते थे, लेकिन धीरे-धीरे लेखक भी बनने लगे। इतिहास में जैसे ऐसे लोग मिलते हैं जो खुद बादशाह नहीं हुए लेकिन तख्तों को उलटने की ताकत रखते थे, उसी तरह महावीरप्रसाद जो खुद बहुत बड़े मौलिक लेखक न भी रहे हों तो सफल लेखक-निर्माता जरूर थे।

इस महापुरुष के काम के अलावा उसके जीवन की भी कुछ बातें आप जानना चाहेंगे। उनका जन्म सन् १८६३ में हुआ था। उनका जीवन कैसे बीता, इसकी तस्वीर उन्होंने खुद खींची है :—

“मैं एक ऐसे देहाती का एकमात्र आत्मज हूँ जिसका मासिक वेतन सिर्फ १०) था। अपने गाँव के देहाती मंदरसे में थोड़ी सी उर्दू और घर पर थोड़ी सी संस्कृत पढ़ कर तेरह वर्ष की उम्र में मैं ३६ मील दूर रायबरेली के ज़िला स्कूल में अंग्रेज़ी पढ़ने गया। आटा-दाल घर से पीठ पर लाद कर ले जाता था। दो आने महीने फ़ीस देता था। दाल ही में आटे के पेड़े या टिकियाएँ पका कर पेट पूजा करता था। रोटी बनाना तब मुझे आता ही न था। संस्कृत भाषा उस समय स्कूल में वैसे ही अछूत समझी गई थी जैसे कि मद्रास के नंबूदरी ब्राह्मणों में वहाँ की शूद्र जाति समझी जाती है। विवश होकर अंग्रेज़ी के साथ फ़ारसी पढ़ता था। एक वर्ष किसी तरह वहाँ कटा। फिर पुरवा, फतेहपुर और उन्नाव के स्कूलों में चार वर्ष काटे। कौटुंबिक दुरावस्था के कारण मैं उससे आगे न बढ़ सका। मेरी स्कूली शिक्षा की वहीं समाप्ति हो गई।

एक साल अजमेर में १५) महीने पर नौकरी कर के पिता के पास बम्बई जा पहुँचा और तार का काम सीख कर जी० आई० पी रेलवे में २०) महीने पर तार बाबू बना।”

इस कहानी के सिलसिले में उन्होंने बताया है कि उनकी तनख्वाह बढ़ती हुई सवा सौ तक गई थी, पर एक अफ़सर की बदतमीजी से नाराज़ हो कर उन्होंने इस्तीफ़ा दे दिया और ‘सरस्वती’ के काम में लग गए। आप को

सुन कर अचम्भा होगा, इसके लिए उन्हें २०) उजरत और ३) डाकखर्च मिलता था। लेकिन तीन पीढ़ियों से जो लगन और हठ उन्होंने बसीयत में पाई थी—उनके पिता कम्पनी के सिपाही थे और ग़दर के वक्त जब उनकी बागी पलटन तोप के आगे उड़ा दी गई थी तब बड़ी मुश्किल से बच निकले थे—उसी लगन और हठ ने उन्हें रास्ता दिखाया। इसी हठ के और भी कई नमूने मिलते हैं। सलत बीमारी की हालत में भी मेहमान के आ जाने पर मेहमाननवाज़ी का फ़र्ज अदा करने के लिए संस्कृत में स्वागत का श्लोक बना कर भेंट करना, मज़ाक में ही मुंह से निकली बात रखने के लिए अपनी स्त्री का मंदिर बनवाना और उसके लिए गाँव-बिरादरी का तिरस्कार सहना, और ऐसी ही बीसियों बातें बताई जा सकती हैं।

वैसे भी उन्होंने अपने जीवन का क्रम बड़े कड़े नियम में ढाल रखा था। जिस दृढ़ता से वे आयु भर ये नियम पालते रहे, उससे समझा जा सकता है कि उनके चरित्र की शक्ति कितनी ठोस और मज़बूती से गढ़ी हुई थी। इन्हीं खूबियों की वजह से लोग उनका मान करते थे, और गाँव-बिरादरी उन्हें सरपंच और मुंसिफ़ की तरह मानती थी, हालाँकि उनके नए ख़याल गाँव वालों को पसंद नहीं आ सकते थे और उनकी कान्यकुब्ज बिरादरी तो मल्ल नाराज़ रहती थी।

सफ़ाई का, तरतीब का तो जैसे उन्हें मज़ था। इस सिलसिले में एक घटना याद आती है जो साथ ही उनकी विनयशीलता का भी नमूना है। कई वर्ष 'सरस्वती' के सम्पादक रह कर जब वे काफ़ी नाम पा चुके थे, तब की बात है। एक दिन उनसे उनके गाँव के घर में एक लेखक मिलने गए। उस वक्त द्विवेदी जी अपने कमरे की सफ़ाई कर रहे थे। आव-भगत करते हुए भी उन्होंने अपना काम जारी रखा और जब मेहमान जाने लगे तो देखा कि बाहर की सफ़ाई करते हुए द्विवेदी जी ने अपने मेहमान के जूते भी पॉलिश करके रख दिए हैं।

कहते हैं कि बड़े आदमियों के बड़प्पन की नाँव छोटी-छोटी बातों पर होती है। द्विवेदी जी ने भी अपने जीवन के लिए चार नियम बनाए थे

जो उन्होंने अपनी कहानी लिखते हुए बताए हैं, और ये नियम इतने सीधे और सरल हैं कि कामयाबी के बाज़ारू लटके जैसे जान पड़ते हैं। लेकिन इन्हीं के सहारे वह कामयाबी और वह रुतवा मिला कि जब आज से ठीक एक साल पहले वे गुज़रे तब कहना पड़ा कि हिन्दुस्तान की एक बड़ी हस्ती उठ गई। ये चार नियम थे—वक्त की पाबंदी करना, रिश्त न लेना, अपना काम ईमानदारी से करना, और अपना ज्ञान बढ़ाने के लिए हर वक्त प्रयत्न करते रहना।

(द्विवेदी जी की वर्षी पर प्रसांगित रेडियोवार्त्ता)

अभ्यास के प्रश्न

- १। द्विवेदीजी ने साहित्य और संस्कृति की किस प्रकार सेवा की है ?
- २। राष्ट्रीय जागृति का सांस्कृतिक जागृति से क्या संबंध है ?
- ३। द्विवेदी जी के जीवन की संक्षिप्त भाँकी दिखाते हुए उनके स्वभाव और चरित्र की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
- ४। द्विवेदीजी के बड़प्पन और सफलता के सूत्र कौन-से थे ?
- ५। निम्नलिखित उर्दू शब्दों के सरल हिन्दी पर्याय लिखिए :—सबूत, मिसाल, ज़िक्र, बुनियाद, तमीज़, गुबार, बखूबी, वसीयत, उजरत, तरतीब।

तैमूर की हार

राम कुमार वर्मा

पात्र:—तैमूर, जफ़रअली—तैमूर का सरदार ; अलीबेग और मुबारक—तैमूर के सिपाही ; कल्याणी—एक ग्रामीण स्त्री ; बलकरन—कल्याणी का पुत्र ; और तीन ग्रामीण ।

स्थान:—दीपलपुर के समीप वन-प्रान्त में एक छोटा-सा गाँव ।

काल:—सन् १३९८ **दृश्य:**—प्रातःकाल ८ बजे ।

मिट्टी का एक छोटा-सा घर । दाहिनी ओर एक दरवाजा है जिससे घर के भीतर प्रवेश किया जाता है । सामने की दीवार में एक खिड़की । बाईं ओर से दरवाजे से अन्दर पहुँचते हैं, वहाँ से तलघर की ओर मार्ग है । कमरे में हर्षवर्धन, विक्रमादित्य और पृथ्वीराज चौहान आदि की कुछ तस्वीरें हैं । बाईं ओर के कोने में एक अँगोठी है जिसपर कुछ खाने की सामग्री पक रही है । उसके समीप ही कुछ बर्तनों में चीजें और मिठाइयाँ सजी हुई हैं ।

कमरे में बीचोबीच एक तख्त है जिस पर एक मोटी-सी दरी बिछी है । उसके समीप ही बैठने का मोड़ा है ।

कल्याणी अँगोठी के पास बैठी हुई कोयले डाल कर आग तेज कर रही है । साथ ही एक गीत गुनगुनाती जा रही है । उसका लड़का बलकरन तख्त पर बैठा हुआ एक पत्थर के टुकड़े पर अपना चाकू तेज कर रहा है ।

कल्याणी—(गुनगुनाती हुई गाती है)

अब मत जाना तुम दूर.....दूर ।

उठ रही है पच्छिम में धूर,

उठ रही है पच्छिम में धूर,

आ गया तुरक.....आ गया तुरक,

नशे में चूर—नशे में चूर.....चूर !

अब मत जाना तुम दूर.....दूर ।

बलकरन—(चाकू तेज करते हुए)—यह तुम क्या गुनगुना रही हो, माँ ! इस पत्थर पर मेरा चाकू तेज नहीं हो रहा है !

कल्याणी—क्या तेरा चाकू भी मेरा गाना सुन रहा है ? (पास आकर मोढ़े पर बैठती हुई) पर आज चाकू तेज करने की तुझे क्या सूझी ! आज तो तेरी वर्षगांठ है !

बलकरन—वर्षगांठ ! मेरी वर्षगांठ पर तो हथियारों की पूजा होनी चाहिए, माँ ! पूजा ! हाँ, तो माँ, क्या यह वर्षगांठ वैसे ही होगी जैसे पारसाल हुई थी ? (चाकू रोक देता है)

कल्याणी—हाँ, बिल्कुल वैसे ही । इस वर्षगांठ पर तू पूरे बारह वर्ष का हुआ । बेटा, मैं तो आशीर्वाद देती हूँ कि इसी तरह तेरी बहुत-सी वर्षगांठें मनाई जायँ । तू दिन दूना, रात चौगुना बढ़े ।

बलकरन—इसीलिए तू गाना गा रही थी ! (फिर चाकू तेज करता है) माँ, कैसा है वह गाना ?

कल्याणी—यों ही, बहुत पुराना गाना है ।

बलकरन—(रुककर) कितना पुराना ?

कल्याणी—बहुत पुराना ! जब मैं तेरे बराबर थी । मेरी माँ गाया करती थी ।

बलकरन—तब माँ, मुझे सिखला दे यह गाना । जब मेरे बच्चे हो जायँगे, तो मैं भी उनके सामने गाऊँगा ।

कल्याणी—(हँसकर) गायेगा ? वाह मेरे बलकरन ! भगवान करे, तेरी बात सच निकले । पर बच्चे, यह गाना अच्छा नहीं ।

बलकरन—वाह, जब तेरी हर एक बात अच्छी है तो गाना क्यों अच्छा नहीं होगा !

कल्याणी—डर का गाना है । अब तो वह ज़माना बीत गया । बहुत बरस हुए, एक तुरक आया था ।

बलकरन—तुरक कौन ?

कल्याणी—तुरक जो हमारा धरम् नहीं मानता । कोई दूसरा धरम मानता है । लोगों का खून बहाता है, उन्हें लूटता है, उनका घर जला देता है ।

बलकरन—यह भी कोई धरम है, माँ ?

कल्याणी—तुरक तो कहता है, हमारा यही धरम है । कहता है जो हमारा धरम, जिसको वह इस्लाम कहता है, नहीं मानता, उसको मारने के लिए ही हमने जनम लिया है ।

बलकरन—अच्छा ! क्या नाम था उस तुरक का ?

कल्याणी—महमूद । कहते हैं, गजनी से आया था । उसने सोमनाथ का मन्दिर तोड़ा और बहुत से आदमियों का खून बहाया । फिर बहुत-सा धन लेकर वह यहाँ से चला गया ।

बलकरन—माँ, अगर मैं उस जगह होता तो देखता !

कल्याणी—तू ? देखता ? बेटा वह तुझे भी

बलकरन—मुझे ? मुझे मारता ? और यह चाकू किस दिन काम आता ? इस चाकू से देख लेता !

कल्याणी—अरे बेटा, उसके पास बड़ी-बड़ी तलवारें थीं । वह जिधर से निकल जाता, आग और मौत बरसाता जाता था ! इसीलिए महमूद का नाम लोगों ने डराने के लिए रख छोड़ा था ।

बलकरन—किसको डराने के लिए ?

कल्याणी—बच्चों को डराने के लिए ! जब कोई बच्चा नटखटी होता था तो लोग कहते थे—देखो, वह महमूद आ रहा है ! तुरक आ रहा है । तभी का यह गाना है । मेरी माँ भी यही गाना कभी-कभी गाती थी !

अब मत जाना तुम दूर.....दूर ।

उठ रही है पच्छिम में धूर !

तुरक पच्छिम से आया था न ? तो कहते हैं—

उठ रही है पच्छिम में धूर ।

उसकी बड़ी सेना साथ आ रही थी, उसके चलने से रास्ते की धूल ऊपर उड़ने लगती थी।

आ गया तुरक—आ गया तुरक !

नशे में चूर—नशे में चूर.....चूर !

लोगों का खून बहाना ही उसका नशा था, इसलिए माँ अपने बच्चे से कहती थी—

अब मत जाना तुम दूर.....दूर.....

बलकरन—(सोचता हुआ) माँ, मैं यह गाना नहीं सीखूँगा। तू भी यह गाना मत गा।

कल्याणी—नहीं गाऊँगी बेटा। वह तो तेरी वर्षगाँठ के मौके पर मुझे बहुत-सी पुरानी बातें याद आ गयीं तो यह गाना भी याद आ गया। गुनगुनाने लगी।

बलकरन—नहीं माँ, अब यह बात नहीं रही। मैं इस चाकू के साथ बड़े-बड़े हथियार लेकर बड़ी दूर जाऊँगा और तुरक को देखूँगा कि वह कैसे अपने नशे में चूर रहता है।

कल्याणी—ठीक है बेटा, ये तो आगे की बातें हैं, जब तू बड़ा हो जायेगा। आज तो तेरी बारहवीं वर्षगाँठ ही है।

बलकरन—तो इससे क्या हुआ ? मैं तुरक से नहीं डरता।

कल्याणी—तेरे पिता भी नहीं डरते थे बेटा ! आज वे होते।

(आँखों में आँसू)

बलकरन—अरे माँ, तेरी आँखों में आँसू ! अच्छा, माँ अब ऐसी बातें नहीं करूँगा ! मुझे माफ़ कर दो ! मुझे माफ़ कर दो !

कल्याणी—बेटा ! तू तो मुझे प्राणों से भी अधिक प्यारा है, तुझे माफ़ करने की बात ही क्या ! मैं तो गीत गाकर और तुझे देखकर ही सब कुछ भूलना चाहती थी।

बलकरन—तो, सब कुछ भूल जाओ, माँ ! बतलाओ, आज वर्षगाँठ में क्या-क्या करोगी ?

कल्याणी—क्या करूँगी ? अपने प्यारे बेटे को नहलाऊँगी, चन्दन लगाऊँगी, फूलों की माला पहनाऊँगी ! फिर, आज मैंने तेरे लिए बहुत अच्छी-अच्छी मिठाइयाँ बनाई हैं। देख उस कोने में रखी हुई हैं। मिठाइयों के साथ खीर खिलाऊँगी, तुझे असीस दूँगी।

बलकरन—पर माँ मेरे साथ तुझे भी खाना पड़ेगा। तुझे भी अपनी वर्षगांठ आज ही मनानी पड़ेगी, अभी ही, मेरे साथ ! मैं अकेला इतनी मिठाइयाँ नहीं खा सकता।

कल्याणी—तेरे खाने के बाद खा लूँगी। बस, दूध भर आ जाय। खीर बनने में देर ही क्या लगती है। पानी उबल ही रहा है।

बलकरन—अभी दूध नहीं आया ?

कल्याणी—सूरज चढ़ आया, अभी तक सुजान दूध लाया ही नहीं, जाने क्यों नहीं लाया।

बलकरन—मैं ले आऊँ ?

कल्याणी—सुजान आता होगा, बेटा तू, कहाँ जाएगा।

बलकरन—‘मत जाना तुम दूर.....दूर’ की बात तू सोच रही है। मैं तो बड़ी दूर जा सकता हूँ और फिर, सुजान का घर है ही कितनी दूर ! रास्ते से जरा हटकर उत्तर की तरफ है न ? उस शीशम के पेड़ के नीचे ही तो उसकी भोपड़ी है। मैं अभी ले आऊँगा।

कल्याणी—तू ऐसी बातें करता है तो जा। पर जल्दी ही लौटना। आज तेरी वर्षगांठ है।

बलकरन—मैं अभी लौटकर आया। (उठता है) मुझे एक बर्तन दे दो। मैं अभी लाता हूँ। और,.....यह चाकू अब काफी तेज़ हो गया है, इसे मैं आने पास रखूँगा।

कल्याणी—चाकू तेरे किस काम आयगा ? अच्छा, यह ले बर्तन। (बर्तन देती है) बेटा, जल्दी ही लौटना।

बलकरन—अच्छा माँ, मैं अभी आया।

(शीघ्रता से प्रस्थान)

कल्याणी—(बलकरन के जान की दिशा में देखती हुई) मेरा भोला बच्चा ! बलकरन ! अभी से कैसी वीरता की बातें करता है ! (संतोष से) बलकरन.....मेरा बेटा ! (फिर अँगोठी के पास आकर आग ठीक करती है । फिर गुनगुनाती है—‘तुम मत जाना.....’(सम्हलकर) नहीं..... यह गाना अब नहीं गाऊँगी । बलकरन को अच्छा नहीं लगता ! मेरा साहसी बच्चा !’ फिर आग ठीक करती है । थोड़ी देर तक स्तब्धता रहती है । फिर भयानक शोर और भगदड़ की आवाज । शीघ्रता से एक ग्रामीण प्रवेश करता है ।)

हिन्दू ग्रामीण—(घबराये हुए स्वरों में) तुरक आ गया ! तुरक आ गया ! भागो, भागो..... तुरक आ गया, भागो !

कल्याणी—(आगे बढ़कर, दृढ़ता से) पागल हो गये क्या ? तुरक कहाँ से आ गया ?

हिन्दू ग्रामीण—नहीं, नहीं, तुरक आ गया ।

कल्याणी—अरे तुरक जब आया था—तबसे बरसों बीत गये ! अब तुरक कहाँ है ? वह आया भी और चला भी गया ! तुरक..... (व्यंग्य से) हूँ !

हिन्दू ग्रामीण—नहीं, सबको लेकर जंगल में छिप जाओ ? वह आ रहा है । (भाग जाता है)

(फिर भगदड़ की आवाज होती है)

कल्याणी—यह भगदड़ कैसी मच रही है ! (आगे बढ़ती है)

(दूसरे ग्रामीण का प्रवेश)

मुसलमान ग्रामीण—बहन भाग चलो । जल्दी जल्दी ! वह तैमूर आ गया ! मैंने अपनी आँखों से देखा है ! लूटते हुए आ रहे हैं वे लोग ! हम लोग मरे.....चलो बहन !

कल्याणी—अरे कैसा तैमूर ? कहाँ का तैमूर ?

मुसलमान ग्रामीण—(नेपथ्य में देखते हुए) तुम नहीं चलोगी ? वह आया ! वह आया !

(भाग जाता है)

कल्याणी—क्या सचमुच ही फिर तुरक आ गया ? अरे, उसको मरे कितने बरस हो गये होंगे । क्या अपनी कब्र से उठर आ रहा है ? लेकिन कहते हैं तैमूर आया है ! तैमूर कौन ? (पुकारकर) बलकरन बलकरन !

(फिर भगदड़ की आवाज, चीख और पुकार)

(तीसरे ग्रामीण का प्रवेश)

तीसरा हिन्दू ग्रामीण—बहन, कल्याणी सब कुछ छोड़कर जल्दी से भागो तभी जान बचेगी ! जंगल में छिप जाओ, नहीं तो घर के तलघर में ही चलो ! चलो मेरे साथ.....समय नहीं है ।

कल्याणी—(घबराहट से) बलकरन ! मेरा बलकरन तो अभी नहीं आया । उसे छोड़कर मैं कहीं भी नहीं जाऊँगी !

तीसरा ग्रामीण—कहाँ गया बलकरन ?

कल्याणी—(घबराहट से) वह...वह...दूध लेन गया है । सुजान के घर ।

तीसरा ग्रामीण—सुजान के घर । बहुत अच्छा है । तब, तब उसका कुछ नहीं बिगड़ेगा । सुजान का घर खास रास्ते से हटकर दूर कोन में है । वे लोग सीधे रास्ते से ही चले आ रहे हैं ।

कल्याणी—कौन ? कौन आ रहे हैं ?

तीसरा ग्रामीण—तुरक....इस बार तैमूर तुरक आया है । बड़ी भारी फौज लिए हैं ।

कल्याणी—(डरकर) तैमूर तुरक ! बड़ी भारी फौज !

तीसरा ग्रामीण—हाँ, पर अब समय बिल्कुल नहीं रहा । बलकरन का कुछ नहीं होगा ! तुम जल्दी से चलकर तलघर में छिप जाओ !

कल्याणी—नहीं, बलकरन को आने दो । मैं बलकरन के बगैर नहीं जाऊँगी । (पुकारती है) बलकरन.....बलकरन....बेटा बलकरन.....

तीसरा ग्रामीण—बहन चुप रहो ! तुरक सुन लेगा । जल्दी चलो..... चलो जल्दी (हाथ पकड़ कर वेग से ले जाता है, कल्याणी का स्वर 'बलक....र....न')

धीरे-धीरे गूँजकर शान्त हो जाता है। कुछ स्तब्धता ! फिर भगदड़। उसकी आवाज स्तब्ध होते ही वेग से तीन सैनिक घर में घुस आते हैं। उनके हाथों में तलवार है। वे घर के सामान को तोड़ते-फोड़ते आते हैं। सरदार, जिसका नाम जफ़रअली है, लात से मोढ़ा उलट देता है। दोनों सिपाही तख़्त के नीचे देखते हैं।)

जफ़र—कोई नहीं। कम्बख़्त सब भाग गये।

पहला—तख़्त के नीचे भी कोई नहीं है।

जफ़र—मुबारक ! इस वक्त आदमियों को कत्ल करने का हमारा उतना मक़सद नहीं है जितना सोना-चाँदी लूटने का है। इस घर में देखो, कहीं है ?

मुबारक—(देखते हुए) कहीं कुछ नहीं है, सरदार ! मामूली सी भोपड़ी है। इसमें सोना-चाँदी कहाँ ?

जफ़र—बेवकूफ़ हो तुम ! इन तस्वीरों को पलटो। इनके पीछे दीवार में कुछ होगा। ये लोग अपना सोना-चाँदी दीवारों में रखते हैं।

(मुबारक और उसका साथी अलीबेग तलवारों से सब तस्वीरों को उलटते हैं। कुछ नहीं देख पड़ता।)

अलीबेग—कहीं कुछ नहीं है, सरदार !

मुबारक—सरदार ! अगर सोना-चाँदी उन लोगों के पास होगा भी तो वे लोग अपने साथ लेकर भाग गये होंगे।

जफ़र—देखो, उस कोने में क्या है ?

अलीबेग—कुछ बर्तन मालूम होते हैं, सरदार ! (बर्तनों के पास जाकर उन्हें खोलता है) सरदार है, यह है !

जफ़र—(खुशी से) शाबास ! क्या है, सोना ? चाँदी ?

(अलीबेग उठाकर लाता है।)

अलीबेग—सरदार ! सोना-चाँदी तो नहीं, लेकिन उससे भी ज्यादा कीमती चीज़ है जिसकी आप को और हमको सख़्त ज़रूरत है।

जफ़र—क्या ?

मुबारक—(अलीबेग के पास आकर) सरदार ! बढ़िया खाना !
तरह-तरह की मिठाइयाँ ! ओह (छूकर) बिल्कुल ताजी ! गरम !

अलीबेग—सरदार, आप बहुत भूखे हैं । कुछ खा लीजिए, फिर तो
दिन भर हम लोगों को लूट और कल्ल करना ही है !

जफ़र—नही नहीं फेंक दो (रुककर) ऐं.....अच्छा, इधर लाओ ।

मुबारक—सरदार ! मालूम होता है, जल्दी में लोग खाना भी नहीं
खा सके ! वैसा ही रक्खा छोड़ गये !

जफ़र—(हाथ से छूकर) हाँ, गरम मिठाइयाँ हैं ! लो तुम लोग भी
लो । भूखे होगे ।

मुबारक—सरदार नोश फरमाएँ ।

जफ़र—मैं खाऊँगा । लो, तुम लो । (मुबारक को देता है । वह प्रसन्न
होकर लेता है ।) अच्छी मिठाइयाँ हैं । लो, अलीबेग तुम भी लो ।

अलीबेग—(आगे बढ़कर) सरदार तो कुबूल करें । (हाथ फैलाता
है ।) दरअसल ताजी है । (शेप मिठाई से भरी थाली जफ़र मोढ़े को
तलवार से सीधाकर, उस पर रखता है । फिर तख्त पर बैठता है ।

जफ़र—(खाते हुए) बहुत लज़ीज़ । दो दिनों से खाना नसीब नहीं
हुआ ! अब जाकर ये मिठाइयाँ सामने आई ।

अलीबेग—(खाते हुए) खुदा का फ़ज़ल है, सरदार !

मुबारक—(सहसा) लेकिन, सरदार ! रुक जाइए ।

जफ़र—(चौंक कर) क्यों ?

मुबारक—कहीं इन मिठाइयों में जहर न मिला हो ?

जफ़र—बेवकूफ़ हो तुम । मुबारक, यहाँ के लोग इतने सीधे हैं कि वे
ये बातें करना जानते ही नहीं । और फिर, हमने अपना धावा इतनी
जल्दी बोला है कि किसी को ऐसा करने का, सोचने का वक़्त ही नहीं मिल
सकता ।

अलीबेग—सरदार सच फरमाते हैं ।

जफ़र—और फिर, दो दिनों के बाद इतना अच्छा खाना नसीब हुआ है ।

भूख-न्यास से बुरा हाल है। और अगर इस तरह मरना ही है, तो मिठाई खाकर क्यों न मरें ?

अलीबेग—सरदार ने क्या बात कही है ! मिठाई खाकर ही क्यों न मरें ! वा.....वाह..... ।

मुबारक—सच बात है ; सरदार ! भूख से तो मरना ही है, तो यह चीज फिर क्यों छोड़ी जाय !

जफ़र—इसलिए मैं खा रहा हूँ। (खाते हुए) वाह, क्या कहना है ! यहाँ के लोग मिठाइयाँ बनाना भी खूब जानते हैं !

अलीबेग—सरदार, मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि ये लोग हम लोगों के लिए ही ये मिठाइयाँ बनाकर छोड़ गये हैं ?

मुबारक—यह कैसे ?

अलीबेग—यह ऐसे कि उन्होंने यह समझा होगा कि ये मिठाइयाँ खाकर हम लोगों का गुस्सा कम हो जायगा। लूट-मार कम करेंगे।

जफ़र—(हँसते हुए) हहहहह ! हम लोगों का गुस्सा कम हो जायगा ! लूट-मार कम करेंगे !

(सब लोगों की ओर से सम्मिलित हँसी)

नेपथ्य से—(तीव्र आवाज से) चुप रहो, कम्बख्तो !

[तैमूरलंग का प्रवेश। वह लँगड़ाता हुआ आगे बढ़ता है। उसे देखते ही सब चौंक पड़ते हैं, मिठाइयाँ जमीन पर फेंककर फौजी ढंग से तनकर खड़े हो जाते हैं। सन्नाटा छा जाता है। तैमूरलंग बारी-बारी से तीनों को घूरता हुआ बढ़ता है।]

तैमूर—(तीव्र स्वर में) बदबख्तो ! इसी तरह तुम हिन्दोस्तान की दौलत गाजी तैमूर के खजाने में भरोगे ? जब तुम्हें कत्ल करना चाहिए, तब तुम आराम से तख्त पर बैठते हो ! जब तुम्हें जवाहिरात ढूँढ़ने चाहिए, तब तुम नाश्ता करते हो ! और जब तुम्हें 'अल्लाहो अकबर' कह कर धावा बोलना चाहिए, तब तुम लोग मिलकर कहकहे लगाते हो ! जवाब दो !

(कोई कुछ नहीं बोलता—निस्तब्धता)

तैमूर—(फिर तीव्र स्वर में) मैंने अफगानिस्तान के बाद हिन्दुस्तान की ओर रुख इसलिए किया था कि मेरे सिपाही दौलत लूटने के बदले खाना ढूँढ़ते फिरें ? मैं बिना जतलाए देखना चाहता था कि तुम किस तरह मेरे हुक्म को अजाम दे रहे हो । इसीलिये मैंने अपने सिपाहियों को बाहर छोड़ दिया । मैं देखता हूँ कि तुमने मेरे जिहाद को नफ्स-परवरी (इन्द्रिय-लोलुपता) का एक अदना तमाशा बना दिया । तुम यहाँ मौज से खाना खाओ और गाजी तैमूर तीन दिन से भूखा रहे, और रात-दिन हुक्म देता रहे । मैंने तुम्हें क्या हुक्म दिया था, सरदार ?

जफ़र—(सैनिक ढंग से) वुल्न्द इकबाल ने हुक्म फरमाया था कि आज शाम तक अमरकोट पहुँच जाना है ।

तैमूर—तो अमरकोट पहुँचने का यह रास्ता है ? बदबख्त ! गाजी तैमूर के सिपाहियों को रास्ता दिखलाने की जिम्मेदारी किस पर है ? तुम पर ! और तुम ऐश करते हुए अमरकोट का रास्ता खोजोगे ?

(फिर सन्नाटा)

तैमूर—मेरे हुक्म को किसने अंजाम दिया ? तुमने ? तुम्हारे सिपाहियों की तलवारों पर खून का एक धब्बा भी नहीं है ! तुम लोग सिपाही हो ? तैमूर का मुँह दिखलाने के क़ाबिल भी नहीं हो ! बोलो क्या चाहते हो ? खाना खाने के बाद तुम्हारे लिए नाच-गाने का इन्तजाम भी किया जाय ?

जफ़र—हम लोग आलीजाह की माफ़ी के ख्वास्तगार हैं । माफ़ी अता फरमायी जाय ।

तैमूर—हरगिज नहीं ! गाजी तैमूर कुसूर को माफ़ करना नहीं ता । जान सरदार, तुमने जो हुक्म उद्गूली की है, उसकी सजा तुम्हें मिलेगी । मैं तुम्हारा नाम.....तुम्हारा नाम.....

जफ़र—जफ़रअली !

तैमूर—जफ़रअली ! तुम इस्लाम की खिदमत नहीं कर सकते ! आज शाम को तुम्हारी सजा तजबीज की जायगी । अभी मैं तुम्हें तुम्हारे मर-तबे से खारिज करता हूँ, समझे ?

जफ़र—बुलन्द इकबाल का हुक्म !

तैमूर—जाओ, शाम तक अमरकोट पहुँचन का मेर हुक्म पूरा हो !
(तीव्रता से) जाओ !

(तीनों सैनिकों का शीघ्रता से प्रस्थान)

तैमूर—(बड़बड़ाता हुआ) दोजख के कुत्ते !.....खाना, पीना, कहकहे ! सिपाहियों में आरामतलबी ! मेरे सामने हिन्दुस्तान की यह फिज़ा नहीं रहेगी । (गला बैठ जाता है । धीरे से) नहीं रहेगी..... (ओठ चाटता है) गला सूख रहा है । तीन दिनों से खाना नहीं मिला.....कल से पानी भी नहीं नसीब हुआ । गला सूख रहा है ।

(जमीन पर गिरा हुआ बतन देखता है । चौंकता है । फिर तलवार से लुढ़काकर उसे सीधा करता है ।) सब खाली ! कम्बल्लों ने कुछ भी नहीं छोड़ा ! लेकिन कोई बात नहीं ! गाज़ी और मुजाहिदों (धार्मिक योद्धाओं) की किस्मत में आराम कहाँ !

(बलकरन का दूध लिए हुए प्रवेश)

बलकरन—(पुकारते हुए) माँ ! माँ !! मैं यह दूध ले आया ।

तैमूर—(चौंककर) दूध !

बलकरन—(उजाड़ घर को देखकर चौंकते हुए) यह सब क्या ? (तैमूर को देखकर) ऐं, तुम कौन ? (पुकारता है) माँ.....माँ ! (कुछ उत्तर न पाकर) मेरी माँ कहाँ है ? (तैमूर गौर से बलकरन को देखता है) इस तरह मेरे....घर में घुस आनवाले तुम कौन हो ?

तैमूर—(जोर से) खामोश ! गाज़ी तैमूर से यह नाचीज़ सवाल करता है कि तुम कौन हो ! कम्बल्ल ! अगर बात पूछने की तमीज़ नहीं है तो खामोश रह !

बलकरन—(धीरे से दुहराता हुआ)—गाज़ी तैमूर !

तैमूर—इस नाम से वाकिफ़ नहीं है ? दुनिया का ज़र्रा-ज़र्रा जिसके कदमों को चूम चुका है, उससे सवाल करता है, 'तुम कौन हो ?' कम्बल्ल बच्चे ! मेरी तलवार से पूछ ! यह तेरे खून में डूबकर तुझे मेरा नाम

बतलायेगी ! लेकिन ठहर.....यह दूध इधर ला....इस वक़्त खुदा ने मेरे लिए भेजा है ।

बलकरन—यह दूध.....यह दूध मेरी वर्षगाँठ के लिए है ।

तैमूर—साफ़ ज़बान में बात कर, जो समझ में आये ! सामने दूध हाज़िर कर ।

बलकरन—नहीं, मैं माँ के सिवा किसी को नहीं दे सकता ।

तैमूर—क्या ? लेकिन मैं ले सकता हूँ ! (बलकरन से छीनकर जोर से अट्टहास करता है) दूध मेरा है कि नहीं ! अब तुझे इस तलवार से काट दूँ ।

बलकरन—(हिचकते हुए) क्या.....क्या तुम तुरक हो, जो खून बहाना चाहते हो ? मेरी माँ यही कहती थीं ।

तैमूर—तू बड़ा निडर मालूम होता है ! सामने आ । मेरी तलवार से कटने का फ़ख़्क़ हासिल कर ।

बलकरन—मेरे पास सिर्फ़ एक चाकू है । मेरे हाथ में भी एक तलवार दो ।

तैमूर—ओफ़ ओह ! तू मुझसे दो हाथ लड़ने का हौसला भी रखता है ! अच्छा ! पहले दूध पिऊँगा । गला सूख रहा है ।

(तख़्त पर तलवार रखकर दोनों हाथों से दूध का बर्तन मुँह में उलट देता है । बलकरन दौड़कर तैमूर की तलवार उठा लेता है ।

तैमूर—(सहसा) मेरी तलवार.....!

बलकरन—तुम्हारी तलवार अब मेरे हाथ में है । अब तुम मुझसे लड़ सकते हो, सामने आओ ।

तैमूर—(दुहराकर) सामने आओ ? शाबास ! लेकिन मेरी तलवार तुझसे सम्हल नहीं सकेगी बच्चे ! इधर ला !

बलकरन—जैसे दूध छीन लिया था, वैसे तलवार भी छीन लो !

तैमूर—छीन लूँ ?

बलकरन—हाँ ; लेकिन लड़नेवाले तलवार नहीं छीनते, बार करते हैं ?

तैमूर—तेरा कहना सही है । मालूम होता है, तू बहादुर है ! मेरी फ़ौज में भर्ती होगा ?

बलकरन—(दृढ़ता से) नहीं !

तैमूर—नहीं ! इस्लाम कबूल करेगा ?

बलकरन—(अधिक दृढ़ता से) नहीं ।

तैमूर—तो अब तुम्हें ज्यादा देर तक जिन्दा नहीं रखूंगा । (पेंतरा बदलकर तलवार छीन लेता है ।) यह रही मेरी तलवार ।

बलकरन—छीन ली ? लेकिन यह बहादुरी नहीं है । मेरे पास यह चाकू है । इसी से लड़ूंगा ?

तैमूर—चाकू से लड़ेगा ? चाकू से ! (अट्टहास करता है) हहहहह !

बलकरन—हाँ थोड़ी देर पहले मैंने इसे तेज किया है । देखो, यह कितना तेज है ! मेरी उँगली से खून निकाल सकता है । (उँगली में चुभोकर खून की बूंदें दिखलाता है ।)

तैमूर—शाबाश ! तैमूर के दिल में रहम नहीं है, लेकिन तेरी बातें सुनकर मैं.....

बलकरन—इन बातों से क्या ? चलाओ अपनी तलवार, मैं भागूंगा नहीं !

तैमूर—भागेंगे नहीं ! तू बहादुर शेर है ! मैं तुम्हपर तलवार नहीं चला सकता ! तू मुझसे भी ज्यादा बहादुर मालूम होता है ! चाकूवाला बहादुर ! तेरा नाम क्या है ?

बलकरन—दुश्मन नाम नहीं पूछता — वार करता है ।

तैमूर—लेकिन तेरी बहादुरी देखकर मैं तुम्हें अपना दुश्मन नहीं मानता । तेरा नाम क्या है, चाकूवाले ?

बलकरन—बलकरन ।

तैमूर—(दुहराता हुआ, बलकरन ! बलकरन ! हिन्दुस्तान की दौलतों में तू भी एक दौलत है ! बलकरन, गाजी तैमूर एहसान नहीं भूलता ! जो उसकी थकावट दूर करने के लिये दूध हाजिर कर सकता है, उसके खून से वह अपनी तलवार नहीं रेंगेगा । नहीं तो अभी तक मैंने तुम्हें साफ़ कर दिया होता ।

बलकरन—लेकिन दूध मैंने हाजिर नहीं किया । तुमने छीन लिया

तैमूर—एक ही बात है। दूध मैंने पिया। मैं तेरी जान बख्शता हूँ और तेरी एक मुराद पूरी कर सकता हूँ।

बलकरन—मुझे कुछ नहीं चाहिए।

तैमूर—नहीं, तू मेरा छोटा-सा बहादुर दोस्त है, चाकूवाला ! और इस हैसियत से तेरा मुझपर हक है।

बलकरन—तो मेरी माँ कहाँ है ?

तैमूर—मैं नहीं जानता ! मेरे सिपाहियों ने तेरी माँ को कत्ल भी न किया होगा ; उनकी तलवारों पर खून का एक भी धब्बा नहीं था।

बलकरन—आप मेरी मुराद पूरी करेंगे ? तो फिर आपसे मैं यही चाहता हूँ कि आप हमारे गाँव से बाहर चले जायें।

तैमूर—(दुहराकर) गाँव से बाहर चले जायें ? (सोचकर) मंजूर ! मैं दूसरे गाँव जाऊँगा। अपने छोटे बहादुर दोस्त की मुराद पूरी करूँगा। तेरा दूध और चाकू मुझे हमेशा याद रहेगा।

बलकरन—धन्यवाद !

तैमूर—मैं कुछ समझा नहीं। खैर, तैमूर की ज़िन्दगी में एक नई बात हुई। तैमूर के सामने कम लोग आते हैं, तू आया। तैमूर कम लोगों को माफ़ करता है, आज किया। वह काफ़िरों का खून पीता है, आज तुझसे छीनकर दूध पिया। यह एक मोजिज़ा (करामात) है।

बलकरन—मैं कुछ समझा नहीं।

तैमूर—(अट्टहास कर) तैमूर की बराबरी करना चाहता है ? लेकिन तू तैमूर से भी बड़ा है। तेरा चाकू उसकी तलवार से भी तेज निकला ! तैमूर खूँखवार है लेकिन बहादुरी को सलाम करता है। बहादुर बच्चे को तैमूर का सलाम !

(फ़ौज़ी ढंग से सलाम करता है)

बलकरन—(उसी तरह) सलाम !

तैमूर—तेरे गाँव को हाथ नहीं लगाऊँगा। सिपाहियों को हुक्म देकर वापस कर दूँगा। (हाथ उठाकर) खुदा हाफ़िज़ !

(शीघ्रता से प्रस्थान)

बलकरन—उसके जाने की दिशा में देखता हुआ) तैमूर..... बहादुर को सलाम करता है ! (फिर लौटता है) चारों ओर देखकर पुकारता है । माँ.....? माँ.....? माँ.....!.....!..... ? (शीघ्रता से कल्याणी का प्रवेश, वह अति शीघ्रता से बलकरन को हृदय से लगा लेती है)

कल्याणी—बेटा.....बेटा.....? बलकरन ! (सिसकने लगती है)

बलकरन—ऐं ! माँ, तू रोती क्यों है ? तू कहाँ थी ?

कल्याणी—बेटा, तैमूर के सिपाही आये थे । उनसे बचाने के लिये ठाकुर दादा मुझे तलघर में खींच ले गये थे । तुझे तो कुछ नहीं हुआ बेटा ? कहीं चोट तो नहीं आयी ? देखूँ (गौर से बलकरन के शरीर को देखती है) ।

बलकरन—नहीं, माँ । कहीं चोट नहीं आई !

कल्याणी—तैमूर के सिपाहियों ने तो तुझे हाथ नहीं लगाया ?

बलकरन—जब खुद तैमूर हाथ नहीं लगा सका, तो तैमूर के सिपाही कैसे हाथ लगायेंगे ?

कल्याणी—तैमूर हाथ नहीं लगा सका ? क्या तैमूर यहाँ आया था ? तुरक तैमूर ?

बलकरन—हाँ, माँ, आया था । वह सारा दूध पी गया !

कल्याणी—सारा दूध पी गया ?

बलकरन—मैं सुजान के घर से दूध लाया था न ? वही दूध सब पी गया ।

कल्याणी—बेटा, वे लोग तो खून पीते हैं !

बलकरन—पीते होंगे ! लेकिन तैमूर ने तो सारा दूध पी लिया !

कल्याणी—तैमूर ने ?

बलकरन—हाँ, माँ ! तूने तो मुझे झूठ बोलना नहीं सिखलाया !

कल्याणी—नहीं बेटा ! कैसा था तैमूर ?

बलकरन—तैमूर ? सिपाही की तरह ; रोबीला चेहरा, मोटे-मोटे हाथ । ऊँची नाक, हाथ में तलवार ! लेकिन माँ, मेरे पास भी चाकू था ! मैंने सबेरे ही से उसे तेज किया था !

कल्याणी—उसकी तलवार के सामने तेरा चाकू किस काम आता ?

बलकरन—उसी चाकू ने तो उसे चौंका दिया ! मुझे वह चाकूवाला बहादुर कहता था !

कल्याणी—(आश्चर्य से) अच्छा !

बलकरन—मैंने कहा, यह चाकू बड़ा तेज्र है । मैंने सबेरे ही इस पर धार रखी है । माँ, उसे मैंने अपनी उँगली चीर कर दिखला दी । देखो, यह खून !

कल्याणी—(चीखकर) ओह, यह खून !

बलकरन—उसने नहीं निकाला । मैंने ही उँगली चीर कर गिराया है !

कल्याणी—(घबराकर) तेरी उँगली से खून तो अभी तक निकल रहा है, बेटा !

बलकरन—उसको कुछ चिन्ता नहीं, माँ । तैमूर कहता था कि तेरा चाकू मेरी तलवार से भी तेज्र निकला ।

कल्याणी—क्या तूने चाकू से उस पर वार किया था ?

बलकरन—नहीं, माँ । मैं तो लड़ना चाहता था, पर वही मोठी-मोठी बातें करने लगा । इस तरह चलता था लँगड़ा कर (लँगड़ा कर चलता है और हाथ फँलाकर कहता है) कहने लगा,—‘तैमूर खूँखवार है’ लेकिन बहादुरी को सलाम करता है । बहादुर बच्चे को तैमूर का सलाम !’ (फौजी ढंग से सलाम करता है ।)

कल्याणी—(आश्चर्य और प्रसन्नता से) वाह, तू तो बिल्कुल तैमूर ही बन गया !

बलकरन—मैं लँगड़ा नहीं बनना चाहता, माँ !

कल्याणी—(हँसकर) हाँ, लँगड़ा कभी न बन ! तू सब तरह से फूले-फले ! तेरी उमर दिन-दूनी-रात-चौगुनी हो ! भगवान को हजार-हजार शन्यवाद है कि उसने मेरे बच्चे की तैमूर से रक्षा की ।

बलकरन—यह सब तेरा आशीर्वाद है, माँ ।

कल्याणी—हाँ, बेटा, आज तेरी वर्षगांठ है न ! (चारों तरफ देखकर)

तैमूर के सिपाहियों ने सारा घर तोड़-फोड़ डाला ! तेरे लिये मैंने कितनी अच्छी मिठाइयाँ बनायी थीं । सब नष्ट हो गयीं अब तेरी वर्षगांठ कैसे मनाऊँ !

बलकरन—अपना आशीर्वाद भर दे दे, माँ और.....

कल्याणी—और क्या ?

बलकरन—औ, तू चन्दन लगाने के लिये कहती थी, न ! मेरी उँगली के खून का रक्त-चन्दन बना ले !

कल्याणी—ओह बेटे ! तू क्या कहता है ? आज मैं अकेली हूँ !
(सिसकती है)

बलकरन—अकेली क्यों ? भगवान् है और मैं हूँ, माँ ।

कल्याणी—जुग-जुग जियो, मेरे लाल ! मैं तुझे भगवान् का अंश समझती हूँ । (चौंकर खिड़की से बाहर देखती हुई) यह पश्चिम में धूल कैसी उड़ रही है ! क्या फिर कोई आ रहा है ?

बलकरन—तैमूर और उसके सिपाही गाँव से बाहर जा रहे होंगे ।

कल्याणी—वे तो गाँव लूट रहे होंगे और आदमियों का खून बहा रहे होंगे ।

बलकरन—नहीं, वे गाँव से बाहर जायेंगे । मैंने जो कह दिया है ।

कल्याणी—तूने कह दिया है ? तेरा हुक्म वे क्यों मानने लगे ?

बलकरन—मानना ही पड़ेगा माँ । तैमूर ने मेरी बहादुरी से खुश होकर मेरी एक बात पूरी करने को कहा ।

कल्याणी—(आश्चर्य से) अच्छा !

बलकरन—मैंने कहा, आप और आप के लोग इसी समय हमारे गाँव से बाहर चले जायँ । तैमूर ने सोचा, फिर कहा, “मंजूर ! मैं दूसरे गाँव जाऊँगा ! अपने छोटे से बहादुर दोस्त की मुराद पूरी करूँगा ।”

कल्याणी—धन्य मेरे लाल (हृदय से लगाती है) घर-घर में ऐसे लाल हों !

बलकरन—(खिड़की से देखता हुआ) हाँ, पश्चिम में तो बहुत धूल उड़ रही है । वे लोग बड़ी तेजी से वापस जा रहे हैं ।

कल्याणी—हाँ बेटे, वापस जा रहे हैं ।

बलकरन—वह पश्चिम की धूलवाला तेरा गीत कैसा है ?

कल्याणी—अब तो उस गीत को बदलना पड़ेगा, मेरे बेटे ! आज वर्षगाँठ के दिन !

बलकरन—तब मेरी उँगली से खून लेकर मुझे तिलक करके उसे बदलकर गाओ ।

कल्याणी—उँगली के खून का तिलक लगाऊँ ? यही सही मेरे लाल ! वीर बालक की वर्षगाँठ है । तेरी बारवीं वर्षगाँठ ऐसे ही मनायी जाय !

(कल्याणी बलकरन की उँगली से खून लेकर तिलक करती है । फिर पहले गीत को बदल कर गाती है । बीच में फिर रक्त का तिलक लगाती है ।)

गीत

तुम जाना घर से दूर....दूर !
 उठ रही है पश्चिम में धूर.....
 उठ रही है पश्चिम में धूर.....
 फिर गया तुरक, भग गया तुरक
 नशे में चूर.....चूर.....
 तुम जाना घर से दूर.....दूर.....

(बलकरन गंभीर है । कल्याणी रक्त-चन्दन लगाती है । धीरे-धीरे परदा गिरता है ।)

अभ्यास के प्रश्न

- १ । तैमूर किससे 'हारा' ? किस कारण और किस परिस्थितियों में उसकी यह अनोखी हार हुई ?
- २ । तैमूर के चरित्र के गुण और दोषों की चर्चा कीजिए ।
- ३ । इस नाटक की कथा को एक कहानी के रूप में बदलकर लिखिए ।
- ४ । निम्नलिखित शब्दों के अर्थ बताइए :—

मक़सद, नोश फ़रमाना, लज्जीज़, बदबस्त, जिहाद, अदना, गाँी, बुलन्द-इक़बाल, तजवीज़, फ़िज़ा, हाफ़िज़ ।

वसन्त आ गया है

हजारीप्रसाद द्विवेदी

शान्तिनिकेतन के जिस स्थान पर बैठकर लिख रहा हूँ उसके आम-गाम कुछ थोड़े-से पेड़ हैं। एक शिरीष है, जिसपर लम्बी-लम्बी सूखी छिम्मियाँ अभी लटकी हुई हैं। पत्ते कुछ झड़ गये हैं और कुछ झड़ने के रास्ते में हैं। जरा-सी हवा चली नहीं कि खड़खड़ाकर भूम उठते हैं। एक नीम है। जवान है, मगर कुछ अत्यन्त छोटी किसलयिकाओं के सिवा उमंग का कोई चिन्ह उसमें भी नहीं है। फिर भी यह बुरा मालूम नहीं होता। मसं भीगी हैं और आशा तो है ही। दो कृष्णा चूड़ाएँ हैं। स्वर्गीय कविवर रवीन्द्रनाथ के हाथ से लगी वृक्षावलि में ये आखिरी हैं। इन्हें अभी शिशु ही कहना चाहिए। फूल तो इनमें कभी आये नहीं, पर वे अभी नादान हैं। भरे फागुन में इस प्रकार खड़ी हैं मानो आषाढ़ ही हो। नील मसृण पत्तियाँ और सूच्यग्र शिखान्त। दो-तीन अमरूद हैं, जो सूखे सावन भरे भादों कभी रंग नहीं बदलते—इस समय दो-चार श्वेतपुष्प इन पर विराजमान हैं, पर ऐसे फूल माघ में भी थे और जेठ में भी रहेंगे। जाती पुष्पों का एक केदार है, पर इनपर भी मुर्दनी छाई हुई है। एक मित्र ने अस्थान में एक मल्लिका का गुल्म भी लगा रखा है, जो किसी प्रकार बस जो रहा है। दो करवीर और एक कोविदार के झाड़ भी उन्हीं मित्र की कृपा के फल हैं, पर वे बुरी तरह चुप हैं। कहीं भी उल्लास नहीं, उमंग नहीं और उधर कवियों की दुनिया में हल्ला हो गया, प्रकृति रानी नया श्रृंगार कर रही हैं, और फिर जाने क्या क्या !

कवि के आश्रम में रहता हूँ। नितान्त ठूँठ नहीं हूँ ; पर भाग्य प्रसन्न न हो तो कोई क्या करे ! दो कांचनार वृक्ष इस हिन्दी-भवन में हैं। एक

ठीक मेरे दरवाजे पर और दूसरा मेरे पड़ोसी के। भाग्य की विडम्बना देखिए कि दोनों एक ही दिन के लगाये गये हैं। मेरा वाला ज्यादा स्वस्थ और सबल है। पड़ोसी वाला कमजोर, मरियल। परन्तु इसमें फूल नहीं आये और वह कम्बल्लत कंधे पर से फूल पड़ा है। मरियल-सा पेड़ है, पर क्या मजाल कि आप उसमें फूल के सिवा और कुछ देखे ! पत्ते हैं ही नहीं और टहनियाँ फूलों से ढक गई हैं। मैं रोज़ देखता हूँ कि हमारे वाले मियाँ कितने अग्रसर हुए। कल तीन फूल निकले थे। उनमें दो तो एक संथाल-बालिका तोड़कर ले गई। एक रह गया है। मुझे कांचनार फूल की ललाई बहुत भाती है। सबसे बड़ी बात यह है कि इन फूलों को पकौड़ियाँ भी बन सकती हैं। पर दुर्भाग्य देखिए कि इतना स्वस्थ पेड़ ऐसा सूना पड़ा हुआ है और वह कमजोर दुबला लहक उठा है ! कमजोरों में भावुकता ज्यादा होती होगी !

पढ़ता-लिखता हूँ। यही पेशा है। सो दुनिया के बारे में पोथियों के सहारे ही थोड़ा-बहुत जानता हूँ। पढ़ा है, हिन्दुस्तान के जवानों में कोई उमंग नहीं है, इत्यादि-इत्यादि। इधर देखता हूँ कि पेड़-पौधे और भी बुरे हैं। सारी दुनिया में हल्ला हो गया कि वसन्त आ गया। पर इन कम्बल्लतों को कोई खबर ही नहीं ! कभी-कभी सोचता हूँ कि इनके पास तब सँदेशा पहुँचाने का क्या कोई साधन नहीं हो सकता ? महुआ बदनाम है कि उसे सबके बाद वसन्त का अनुभव होता है ; पर जामुन कौन अच्छी है ? वह तो और भी बाद में फूलती है ! और कालिदास का लाड़ला यह कर्णिकार ? आप जेठ में मौज में आते हैं। मुझे ऐसा लगता है कि वसन्त भागता-भागता चलता है। देश में नहीं, काल में। किसी का वसन्त पन्द्रह दिन का है तो किसी का नौ महीने का। मौजी है अमरूद। बारह महीने इसका वसन्त-ही-वसन्त है। हिन्दी-भवन के सामने गंधराज पुष्पों की पाँत है। ये अजीब हैं ; वर्षा में ये खिलते हैं, लेकिन ऋतु-विशेष के उतने कायल नहीं हैं। पानी पड़ गया तो आज भी फूल सकते हैं। काव्यों की दुनिया में जिसकी कभी चर्चा नहीं हुई, ऐसी एक घास है—विष्णुकान्ता।

हिन्दी-भवन के आँगन में बहुत है। कैसा मनोहर नाम है! फूल और भी मनोहर होते हैं। ज़रा-सा तो आकार होता है, पर बलिहारी है उस नील-मेदुर रूप की। बादल की बात छोड़िए, ज़रा-सी पुरवाई बह गई तो इसका उल्लास देखिए। बरसात के समय तो इतनी खिलती है कि मत पूछिए। मैं सोचता हूँ कि इस नाचीज़ लता को संदेश कैसे पहुँचता है? थोड़ी दूर पर वह पलास ऐसा फूटा हुआ है कि ईर्ष्या होती है। मगर उसे किसने बताया कि वसन्त आ गया है? मैं थोड़ा-थोड़ा समझता हूँ। वसन्त आता नहीं, ले आया जाता है। जो चाहे और जब चाहे अपने पर ले आ सकता है। वह मरियल कांचनार ले आया है। अपने मोटेराम तैयारी कर रहे हैं। और मैं?

मुझे बुखार आ रहा है। यह भी नियति का मज़ाक ही है। सारी दुनिया में शोर हो गया है कि वसन्त आ रहा है, और मेरे पास आया बुखार। अपने कांचनार की ओर देखता हूँ और सोचता हूँ, मेरी ही वजह से तो यह नहीं रुका है?

अभ्यास के प्रश्न

- १। इस निबन्ध की शैली में आपको क्या क्या विशेषताएँ दृष्टि-गोचर होती हैं?
- २। लेखक ने वसन्त के पुष्पों के बहाने किन-किन को अपने व्यंग्य का लक्ष्य बनाया है?
- ३। निम्नलिखित वाक्यों की सरल शब्दों में व्याख्या कीजिए :—
 (अ) मुझे ऐसा लगता है.....काल में। (पृ०.....१२८)
 (आ) कवियों की दुनिया में जिसकी कभी चर्चा नहीं हुई.....
 कैसे पहुँचता है? (पृ०.....१२८)
 (इ) वसन्त आता नहीं.....और मैं? (पृ०.....१२९)
 (ई) कमजोरों में भावुकता ज्यादा होती होगी। (पृ०.....१२८)

नागरिक ज्ञान और कर्तव्य

रामनाथ 'सुमन'

किसी देश या राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति उसका नागरिक है। किसी राज्य के निवासी होने के कारण व्यक्ति को कुछ मौलिक अधिकार प्राप्त होते हैं जिन्हें नागरिक अधिकार कहा जाता है। इनमें धार्मिक स्वतंत्रता, विचार-स्वातंत्र्य तथा अपने निजी मत या विचारों को प्रकट करने की सुविधाएँ मुख्य हैं। इन्हीं के कारण उसे बहुत सी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सुविधाएँ भी प्राप्त होती हैं। स्वतंत्र राज्य यथासंभव अपने नागरिकों के नागरिक अधिकारों की रक्षा का प्रयत्न करते हैं। और नागरिक अपने राष्ट्र के सामूहिक हित-रक्षण का ध्यान रखते हैं।

पर जैसे प्रत्येक नागरिक के कुछ अधिकार होते हैं वैसे ही उसके कुछ कर्तव्य भी होते हैं। इन कर्तव्यों के ज्ञान और पालन पर ही एक समाज का भविष्य निर्भर करता है। वस्तुतः लोकाचरण या लोकनीति को ही आजकल की भाषा में नागरिक शास्त्र कहा जाता है। मनुष्य जिस समाज का सदस्य है उसके प्रति उसकी शुभाकांक्षा अथवा कल्याण-भावना उसके आचरण में किस प्रकार प्रकट होती है या होनी चाहिए, यह नागरिक विद्या के अन्तर्गत आता है।

प्रभु ने हमें जीवन दिया है—भरने की भाँति स्वच्छ जीवन। प्रकृति ने अपना अपार शुद्ध वायु-भाण्डार हमें सौंप दिया है—वह वायु जिसका एक घूँट अमृत की तरह हमारे रक्तकोषों को जीवनी-शक्ति से भर देता है। यह स्वास प्रतिक्षण शुद्ध वायु अन्दर पहुँचाता है और अशुद्ध वायु बाहर फेंक देता है। हृदय रात-दिन, उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते-जागते, प्रत्येक अवस्था में चल रहा है और रक्त शरीर में कहीं ठहरता नहीं, उसकी नित्य चंचल धारा

सदैव गतिमान है। तब भी रोग है, शोक है, कष्ट है, गन्दगी है। क्यों ऐसा है ?

इसीलिए कि हम अपने कर्तव्य को भूल कर क्षुद्र और संकुचित दृष्टिकोण से जीवन को देखते हैं। हम अपने तथा दूसरों के वास्तविक कल्याण की ओर से उदासीन या निष्क्रिय हैं। यदि प्रत्येक नागरिक नगर या गाँव की गलियों के प्रति वही निजत्व की भावना रखे जो वह अपने घर के प्रति रखता है ; यदि वह सोचे कि उसका नगर या ग्राम उतना ही स्वच्छ रहना चाहिए जितना उसका घर है तो वह उसे स्वच्छ रखने की चेष्टा करेगा। तब वह कूड़ा नियत स्थान पर डालेगा। तब वह सोचेगा कि उसका स्वास्थ्य और सुख केवल उसके घर की स्वच्छता पर ही नहीं, पास-पड़ोस और सम्पूर्ण नगर या ग्राम की स्वच्छता पर निर्भर है। तब वह समझेगा कि यदि नगर गन्दा है, तो वह भी शुद्ध वायु नहीं पा सकता ; निरोग नहीं रह सकता। तब उसकी अनुभूति कहेगी कि तुम्हारा जीवन, तुम्हारा स्वास्थ्य दूसरों के जीवन और स्वास्थ्य पर निर्भर करता है और उनसे अभिन्न है।

नागरिकता की भावना वस्तुतः एक कुटुम्ब-भाव की अनुभूति के प्रसार की भावना है। अपने पड़ोसियों के जीवन में भाग लेना, अपने तथा अपने साथ उनके जीवन को सुखपूर्ण, स्वस्थ, उन्नत एवं कर्तव्यशील बनाने की चेष्टा करना नागरिकता की प्राण-भावना है। यदि पड़ोसी के घर में आग लग जाय तो मेरा कर्तव्य है कि मैं हर तरह से उसकी सहायता करूँ ; यदि हमारा पड़ोसी भूखा है या बीमार है या किसी और कष्ट में है तो उसकी मदद के लिए दौड़ पड़ूँ। यदि हमारे किसी कार्य से नगर या ग्राम की हानि होने की संभावना है तो हमें अपना वह कार्य तुरन्त बन्द कर देना चाहिए या उसे इस ढङ्ग पर करना चाहिए कि हानि न हो। ऐसा नहीं होता, इसीलिए हमारी सामाजिक उन्नति रुकी हुई है।

जो आचरण हमारे पड़ोसियों, देशवासियों के हित के सर्वथा विरुद्ध हैं वे सब अनागरिक आचरण हैं। नागरिक का कर्तव्य यह है कि वह दूसरों के जीने में बाधक नहीं, सहायक बने। उसका आचरण लोकहित के अनुकूल

होना चाहिए ; उसके अन्दर यह भावना विकसित होनी चाहिए कि हम सब का हित एक है ; हम सब को मिलकर रहना चाहिए । ऋग्वेद में इसी कर्त्तव्यभावना का उद्बोधन इन शब्दों में किया गया है—

“हे मनुष्यो, आप सब अच्छी तरह मिलकर चलो, आपस में भेद न रखो, एक दूसरे को जानने की चेष्टा करो । जैसे देवगण या सूर्य, अग्नि, वायु आदि अपना-अपना कर्त्तव्य-पालन करते हैं उसी प्रकार आप भी अपना-अपना कर्त्तव्य पालन करें । आप सब की एक मंत्रणा (सलाह) हो, एक साथ उठना-बैठना हो, हृदय एक हो । मैं सब को एक मंत्र से दीक्षित करता हूँ और एक-से प्राकृतिक साधन देता हूँ । आप लोगों का एक संकल्प हो, हृदयों में फूट न हो ; आप लोगों के सब काम एक साथ अच्छी तरह सम्पन्न हों ।”

मानव-हित, समाज-हित से अपने हित की अभिन्नता का बोध ही सच्ची नागरिक भावना है ।

जिस दिन हम अनुभव करेंगे कि हम चाहे जिस स्थिति में हों और चाहे जिस स्थान पर हों, हमारा जीवन एकाकी नहीं है ; उसके साथ अनेक जीवन जुड़े हुए हैं ; उसके हित के साथ अनेक का हित सम्बद्ध है ; उसके दुःख-सुख में दूसरों का दुःख-सुख है ; उसकी उन्नति-अवनति के साथ दूसरों के उत्थान-पतन की डोर जुड़ी हुई है, तब हमारा स्वार्थ संयत और परिष्कृत होगा ; तब अपना और पराया अलग होकर भी विरोधी पक्ष न होंगे और दोनों की विभाजक रेखा क्षीण हो जायगी । जब मनुष्य अपने हित और स्वार्थ में लिप्त है तो वह मानसिक दृष्टि एवं सामाजिक उत्थान के क्रम में पशु कोटि का है ; जब वह अपने स्वार्थ से दूसरों के स्वार्थ का समन्वय करता है तब मनुष्यता की प्रथम अनुभूति प्राप्त करता है, और जब दूसरों के हित में ही अपना हित देखकर स्वार्थ से ऊपर उठता है तब उसमें मानवता की मर्यादा पूर्ण होती है । दूसरों के हित में तत्पर और समाज के सामूहिक कल्याण के लिए कर्त्तव्योन्मुख मनुष्य ही वास्तव में मनुष्य है । उसी का जीवन जीवन है और उसी की शिक्षा सार्थक है । ऐसी नागरिक भावना या लोकनीति के उदय के बिना समाज की प्रगति संभव नहीं है ।

अभ्यास के प्रश्न

- १। स्वस्थ नागरिकता का आधार क्या है ? नागरिकता की सच्ची भावना किस अनुभूति पर खड़ी है ?
- २। 'जैसे प्रत्येक नागरिक के कुछ अधिकार होते हैं, वैसे ही उसके कुछ कर्तव्य भी होते हैं।' इस कथन का आशय भलीभाँति स्पष्ट कीजिए।
- ३। नागरिक कर्तव्यों का ज्ञान हमारे देश में किन-किन क्षेत्रों में प्रधान रूप से दुर्लभ है ?
- ४। 'सच्चा नागरिक ही वास्तविक शिक्षाप्राप्त व्यक्ति है'—इस उक्ति के आधार पर एक छोटा-सा निवन्ध लिखिए।

गंगा मैया

काका कालेलकर

गंगा कुछ भी न करती, केवल देवव्रत भीष्म को ही जन्म देती, तो भी वह आज आर्य-जाति की माता ही कहलाती। भीष्म की वज्र जैसी टेक, उनकी निःस्पृहता, उनका ब्रह्मचर्य और तत्त्वज्ञान सदा के लिये आर्यजाति का एक आदरणीय आदर्श बन गया है। हम गंगा को ऐसे महापुरुष की माता के रूप में ही पहचानते हैं।

नदी को अगर कोई उपमा शोभती है, तो वह माता की ही। नदी के तीर पर रहने से अकाल का डर तो रहता ही नहीं। जब मेघराज हमें धोखा दे देते हैं, तब नदी माता ही हमारी फसल पकाती है। नदी का तट शुद्ध और शीतल हवा का सोता है। उसके किनारे-किनारे घूमने-फिरने जावें तो प्रकृति की मातृवत्सलता के अखंड प्रवाह का दर्शन होता है। नदी बड़ी हो और उसका बहाव धीर-गंभीर हो, तब तो उसके तट पर रहनेवालों की शान-शौकत और खुशहाली उस नदी पर ही निर्भर रहती है। सचमुच नदी जन-समाज की माता है। जब हम किसी नदी के किनारे पर आबाद शहर की गलियों में घूम रहे हों और एकाध कोने से कहीं नदी की झलक देखने को मिल जाय, उस समय हमें कितना आनन्द होता है ! कहाँ शहर का गन्दा वातावरण और कहाँ नदी का आनन्ददायी दर्शन ! उसी क्षण दोनों का अन्तर हमें मालूम हो जाता है। नदी ईश्वर नहीं है ; पर ईश्वर का स्मरण करानेवाली देवी जरूर है। अगर गुरु को नमन करना उचित है तो नदी की भी वन्दना करना उचित है।

यह तो हुई एक सामान्य नदी की बात। गंगा मैया तो आर्य जाति की माता है। आर्यों के बड़े-बड़े साम्राज्य इसी के तट पर स्थापित हुए हैं। कुरु-

पंचाल देश का अंग-बंग आदि देशों के साथ गंगा ने ही गठबन्धन किया । आज भी हिन्दुस्तान की अधिकांश आबादी गंगा के ही तट पर है ।

हम जब गंगाजी का दर्शन करते हैं, तब हरे-हरे लहलहाते खेत ही हमारे ध्यान में नहीं आते वरन् उनके साथ व्यास, वाल्मीकि के अमर काव्य, बुद्ध, महावीर के विहार, अशोक, समुद्रगुप्त या हर्ष सरीखे बड़े सम्राटों के पराक्रम और तुलसी और कबीर जैसे सन्त-महात्माओं की साखियाँ और भजन—इन सबका भी स्मरण हो आता है । गंगा का दर्शन तो शैत्य, पावनत्व का प्रत्यक्ष दर्शन है ।

लेकिन गंगा का दर्शन कुछ एक ही तरह का नहीं है । गंगोत्री के पास बर्फ से ढके हुए प्रदेशों में इसका क्रीड़ासक्त कन्यारूप, उत्तरकाशी की ओर चीड़-देवदार के काव्यमय प्रदेश में मुग्धारूप, देवप्रयाग के पहाड़ी और सँकरे प्रदेश में चमकीली अलकनन्दा के साथ इसकी अठखेलियाँ, लक्ष्मणभूले के विकराल दंष्ट्र से छूटने के बाद हरिद्वार के समीप कई धाराओं में विभक्त होकर इसका स्वच्छन्द विहार, कानपुर से सटकर जाता हुआ इसका इतिहास-प्रसिद्ध प्रवाह, तीर्थराज प्रयाग के विशाल पाट के ऊपर इसकी यमुना के साथ लोक-पावन त्रिवेणी-संगम होने की शोभा कुछ निराली ही है । एक दृश्य को देखकर दूसरे की कल्पना ही नहीं हो सकती । हर एक का सौन्दर्य जुदा, हर एक का भाव जुदा, हर एक का वातावरण जुदा और हर एक का माहात्म्य भी जुदा है ।

प्रयाग से गंगा कुछ निराला ही रूप धारण कर लेती है । गंगोत्री से लेकर प्रयाग तक गंगा उत्तरोत्तर बढ़ती हुई भी एक रूप मानी जाती है । किन्तु प्रयाग के पास इसमें यमुना आकर मिलती है । यमुना का पाट तो पहले से ही दोहरा है । वह खेलती है, कूदती है, पर क्रीड़ासक्त नहीं दीखती और जब गंगा शकुन्तला जैसी तपस्वी कन्या दीखती है, तब काली यमुना द्रौपदी जैसी मानिनो राजकन्या दीख पड़ती है । जब शर्मिष्ठा और देवयानी की कथा सुनते हैं, तब उस समय प्रयाग के समीप गंगा और यमुना का बड़ी कठिनाई से मिलता हुआ शुक्ल-कृष्ण प्रवाह याद आता है ।

भारतवर्ष में अनगिनत नदियाँ हैं और उनके संगम भी अनेक हैं । हमारे

पूर्वजों ने इन सभी संगमों में गंगा-यमुना का यह प्रेम-सम्मिलन सबसे ज्यादा पसन्द किया और इसीलिये 'प्रयागराज' जैसा गौरवपूर्ण नाम रखा। भारत में मुसलमानों के आने के बाद जिस प्रकार उसके इतिहास का रूप बदला, उसी प्रकार दिल्ली, आगरा, और मथुरा वृन्दावन के समीप से आते हुए यमुना के प्रवाह के कारण गंगा का अपना रूप भी बिलकुल बदल गया है।

प्रयाग के बाद गंगा एक कुल-वधू की तरह गंभीर और सौभाग्यवती दीख पड़ती है। इसके बाद गंगा में बड़ी-बड़ी नदियाँ मिलती जाती हैं। यमुना का जल मथुरा-वृन्दावन से श्रीकृष्ण के संस्मरण अर्पण करता है। अयोध्या में होकर आनेवाली सरयू आदर्श नरपति रामचन्द्र के प्रतापी, किन्तु करुण जीवन की स्मृतियाँ लाती है। दक्षिण की ओर से आनेवाली चंबल नदी राजा रंतिदेव के यज्ञ-योग की बातें सुनाती है, जब कि महान् कोलाहल करता हुआ शोणभद्र नद गज और ग्राह के भीषण युद्ध की भाँकी कराता है। इस भाँति हृष्ट-पुष्ट बनी हुई गंगा पाटलिपुत्र के पास मगध साम्राज्य के समान विस्तीर्ण हो जाती है। फिर भी गंडकी अपना अमूल्य करभार लाते हुए हिचकिचायी नहीं। जनक और अशोक की, बुद्ध और महावीर की प्राचीन भूमि से निकलकर आगे बढ़ती हुई गंगा मानों विचार में पड़ जाती है कि अब कहाँ जाना चाहिए। जब इतनी प्रचण्ड जलराशि अपने अमोघ वेग से पूरब की तरफ बह रही हो, तब उसे दक्षिण की ओर मोड़ देना क्या कोई सरल बात है? फिर भी वह उस ओर मुड़ जाती है। जिस तरह दो सम्राट् अथवा दो जगद्गुरु एका-एक एक-दूसरे से नहीं मिलते, उसी तरह गंगा और ब्रह्मपुत्र का हाल है। ब्रह्मपुत्र हिमालय के उस ओर का जल समेटकर आसाम में से होती हुई पश्चिम की तरफ आती है और गंगा इस ओर से पूरब की ओर जाती है। दोनों का मिलाप आमने-सामने कैसे हो सकता है? कौन पहले झुके, कौन पहले रास्ता दे? अन्त में दोनों ने निश्चय किया कि दोनों को दाक्षिण्य, एक-दूसरे को प्रसन्न करने की उदारता, का विचार करके सरित्पतिसागर के दर्शन के लिए जाना चाहिए और भक्ति-नम्र होकर जाते-जाते, जहाँ भी संभव हो वहाँ मार्ग में एक दूसरे से मिल लेना चाहिए।

इस प्रकार गोलंद के पास जब गंगा और ब्रह्मपुत्र का विशाल जल आकर मिलता है, तब यह शंका होने लगती है कि क्या समुद्र इससे कुछ भिन्न प्रकार का होता होगा ? जिस प्रकार विजय पाने के बाद खड़ी हुई सेना अव्यवस्थित हो जाती है और विजयी वीर जहाँ-तहाँ घूमते-फिरते हैं, उसी तरह संगम के बाद इन नदियों की भी दशा होती है । ये अनेक मुखों द्वारा सागर में आकर मिल जाती हैं । गंगा और ब्रह्मपुत्र एक होकर पद्मा का नाम धारण करती हैं । यह पद्मा आगे चलकर मेघना के नाम से पुकारी जाती है ।

यह अनेक-मुखी गंगा कहाँ जा रही है ? सुन्दरवन में बेंत के भुंड उगाने के लिए या सगरपुत्रों की वासना तृप्त कर उनका उद्धार करने के लिए ? आज जाकर आप देखें तो उस प्राचीन काल की कोई भी बात यहाँ नहीं रही । जहाँ देखो वहाँ सन की बोरियाँ बनानेवाली मिलें और इसी तरह के दूसरे बसूरत कल-कारखाने खड़े हुए हैं । जहाँ से हिन्दुस्तानी कारीगरी की असंख्य वस्तुएँ हिन्दुस्तान के जहाजों में लद-लदकर लंका और जावा द्वीप तक जाती थीं, वही से अब विलायती और जापानी आगबोटें विशेष कारखानों में बने हुए कूड़े-कचरे जैसे माल से हिन्दुस्तान के बाजारों को पाट देने के लिए आती हुई दिखाई देती हैं । गंगा मैया पहले ही की तरह हमें समृद्धि प्रदान करती है, लेकिन हमारे निर्बल हाथ उस समृद्धि को सँभाल नहीं सकते हैं ! गंगा मैया ! यह दुःखद दृश्य देखना तेरे भाग्य में कब तक बदा है ?

अभ्यास के प्रश्न

- १ । इस निबन्ध की शैली में आपको कौन-कौन सी विशेषताएँ दृष्टि-गोचर होती हैं ?
- २ । लेखक ने गंगा नदी के रूप और महत्त्व, शोभा और गौरव के विषय में जो विचार व्यक्त किए हैं, उन्हें अपने शब्दों में लिखिए ।
- ३ । निम्नलिखित वाक्यों के सन्दर्भ का उल्लेख करते हुए उनकी सरल व्याख्या कीजिए :—

- (अ) वह खेलती है.....प्रवाह याद आता है। (पृ० १३५)
 (आ) अन्त में दोनों ने निश्चय किया.....मिल लेना चाहिए।
 (इ) जिस प्रकार विजय पाने के बाद.....मिल जाती हैं।
 (ई) गंगा मैया पहले ही की तरह.....बदा है ? (पृ० १३७)
- ४। निम्नलिखित शब्दों के अर्थ लिखिए :—
 अठखेलियाँ, मातृवत्सलता, क्रीड़ासक्त, दंष्ट्र, सरित्पतिसागर,
- ५। समृद्धि, शुक्ल-कृष्ण ।
 नीचे लिखे हुए शब्द किन मूल शब्दों के आधार पर बने हैं :—
 टेक, निस्पृहता, वत्सलता, शैत्य, मुग्धा, गौरव, संस्मरण,
 प्रचण्ड, दाक्षिण्य ।

समाज और धर्म

सम्पूर्णानन्द

यदि सभी लोग अपने-अपने धर्म का पालन करें तो सभी सुखी और समृद्ध रह सकें। परन्तु आज ऐसा नहीं हो रहा है। धर्म का स्थान गौणा-तिर्गोण हो गया है, इसलिए मुख और समृद्धि भी गूलर का फूल हो गई है। यदि एक सुखी और सम्पन्न है तो पचास दुखी और दरिद्र है। साधनों की कमी नहीं है परन्तु धर्मबुद्धि के विकसित न होने से उनका उपयोग नहीं हो रहा है। कुछ स्वार्थी और युयुत्स प्रकृति के प्राणी तो स्यात् समाज में सभी कालों में रहे हैं और रहेंगे, परन्तु आजकल ऐसी व्यवस्था है कि ऐसे लोगों को अपनी प्रवृत्ति के अनुसार काम करने का खुला अवसर मिल जाता है और उनकी सफलता दूसरों को इनका अनुगामी बना देती है। दूसरी ओर जो लोग सचमुच सदाचारी हैं उनके मार्ग में पदे-पदे अड़चनें पड़ती हैं।

मनुष्य का सबसे बड़ा पुरुषार्थ मोक्ष है। परन्तु समाज किसी में हठात् आत्मसाक्षात्कार की इच्छा उत्पन्न नहीं कर सकता। न कोई योगी बनने के लिए विवश किया जा सकता है, न ब्रह्मविविक्तियों के लिये सार्वजनिक पाठशालाएँ खोली जा सकती हैं। बलात् कोई धर्मात्मा भी नहीं बनाया जा सकता। परन्तु समाज का संव्यूहन ऐसा हो सकता है कि सबके सामने आत्मज्ञान का आदर्श रहे, वैयक्तिक और सामूहिक जीवन का मूलमंत्र प्रतिस्पर्धा की जगह सहयोग हो और सबको अपनी सहज योग्यताओं के विकास का अवसर मिले। यदि ऐसी अवस्था हो तो धर्म का स्वतः प्रोत्साहन और मुमुक्षा को अनुकूल वातावरण मिल जायगा। इसके साथ ही यह बात भी आपही सिद्ध हो जायगी कि जिन लोगों की धर्मबुद्धि उद्बुद्ध नहीं है, वे समाज की बहुत क्षति न कर सकें।

मनुष्य ने अपने को इतने टुकड़ों में बाँट लिया है कि एकता को कहीं आश्रय नहीं मिलता। जितने टुकड़े हैं उतने ही पृथक् हित हैं और इन हितों की सिद्धि पार्थक्य को उतना ही बढ़ाती है।

उदाहरण के लिये उस टुकड़े को लीजिए जिसको राष्ट्र कहते हैं। हमने अपने को राष्ट्रों में बाँध रखा है और प्रत्येक राष्ट्र अपने को स्वतन्त्र, प्रभुराज के रूप में संव्यूह देखना चाहता है। दो मनुष्य एक ही विचार रखते हैं, एक ही संस्कृति के उपासक हैं, एक को दूसरे से कोई द्वेष नहीं है, फिर भी विभिन्न राष्ट्रों के सदस्य होने के कारण उनके हित टकराते हैं, एक दूसरे से लड़ना पड़ता है, एक को दूसरे के बाल-बच्चों को भूखों मारना पड़ता है। व्यक्ति को दास बनाना बुरा समझा जाता है, परन्तु समूचे राष्ट्र को दास बनाना, समूचे राष्ट्र को अपनी इच्छानुसार चलाना, समूचे राष्ट्र का शोषण करना बुरा नहीं है। बलात् दूसरे के घर का प्रबन्ध नहीं किया जा सकता, परन्तु बलात् दूसरे राष्ट्र पर शासन किया जा सकता है। राष्ट्रों और राज्यों के परस्पर व्यवहार में सत्य, अहिंसा और सहिष्णुता को स्थान नहीं है। जो मनुष्य दूसरे व्यक्ति की एक पाई दबा लेना बुरा समझता है, वह दूसरे पद से राष्ट्र का गला घोट देना निन्द्य नहीं मानता। यह बात श्रेयस्कर नहीं है। कुटुम्ब में व्यक्ति होते हैं, राष्ट्र में समाज इसी प्रकार है। कुछ बातों में अपना अलग जीवन भी बिताएँ, परन्तु सारे मानव समाज की एकता सतत सामने रहनी चाहिए। युद्ध और कलह का युग समाप्त होना चाहिए। जो राष्ट्र दूसरों की ओर कुदृष्टि से देखे वह राष्ट्र समुदाय से बहिष्कृत और दण्डित होना चाहिए। न्याय और सत्य सामूहिक आचरण के आधार बनाए जा सकते हैं। मानव संस्कृति एक और अविभाज्य है। योगी, कवि, कलाकार, विज्ञानी चाहे किसी देश के निवासी हों, मनुष्य समाज मात्र की विभूति हैं। इसके साथ ही आर्थिक विभाजन भी समाप्त होना चाहिए। प्रकृति ने जो भोग सामग्री प्रदान की है उसे भी मनुष्य मात्र के उपयोग का साधन मानना उचित है। जब तक मनुष्य अपने देश के बाहर अजनबी समझा जायगा, जब तक वसुन्धरा बलवानों की सम्पत्ति समझी जायगी, जब

तक किसी देश को यह अधिकार रहेगा कि वह सामर्थ्य रहते हुए भी दूसरे देशों की आवश्यकता की पूर्ति करे या न करे और करे तो अपनी मनमानी शर्तों पर, तब तक मनुष्य समाज सुखी नहीं हो सकता ।

जो नियम अंतर्राष्ट्रीय जीवन के लिये उपयुक्त हैं, वही राष्ट्र के भीतर के लिये भी लागू होते हैं । राष्ट्र का भीतरी संव्यूहन ऐसा होना चाहिए जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को धर्म से अविरोध अर्थ और काम की निर्वाध प्राप्ति हो सके । यह तभी हो सकता है जब समाज का संगठन धर्म-मूलक हो । समय के साथ धर्म के ऊपरी रूप बदलते रहते हैं, परन्तु उसके मूलतत्त्व अटल हैं । जो काम ऐक्य और सहयोग का वर्धक है, वह धर्म है । जो काम अपने संकुचित 'स्व' पर केन्द्रित रहता है, वह अधर्म है । जिस समाज में कोई जन्मना ऊँचा, कोई जन्मना नीचा माना जायगा ; जिस समाज में योग्य व्यक्ति को ऊपर उठने का, अपनी सहज योग्यता को विकसित करने का अवसर न दिया जायगा और अयोग्य व्यक्ति कुल के आधार पर ऊँचे पद से हटाया न जायगा ; जिस समाज में तप और विद्या का स्थान सर्वोपरि न हाँगा, वह समाज अधर्म की नींव पर खड़ा है । जिस समाज में थोड़े से व्यक्तियों को समाज की धनज शक्ति को यथेच्छ लगाने का अधिकार होता है, जिस समाज में शासितों को अपने शासकों की आलोचना करने और उनके काम से असंतुष्ट होने पर उनको हटाने का अधिकार नहीं होता, जिस समाज में शासकों के ऊपर तपस्वी विद्वानों, ब्राह्मणों, का अंकुश नहीं होता, जिस समाज में शिक्षा, विज्ञान, कला और उपासना पर शासकों का नियंत्रण होता है, वह समाज अधर्म की नींव पर खड़ा है । जिस समाज में थोड़े से मनुष्य धनवान और शेष निर्धन हैं, जिस समाज में भोज्य पदार्थों के उत्पादन के मूल साधनों, अर्थात् भूमि, खनिजों और यन्त्रों पर कुछ व्यक्तियों का स्वत्व है ; जिस समाज में मनुष्यों का शोषण वैध है ; जिस समाज में प्रतिस्पर्द्धियों को नीचे गिराना ही उन्नति का साधन है ; जिस समाज में बहुतों की जीविका थोड़ों के हाथ में है, वह समाज अधर्म की नींव पर खड़ा है । यह कोई तर्क नहीं है कि प्राचीन काल

में आज से कई सहस्र या कई सौ वर्ष पूर्व इनमें से कई बातें उचित समझी जाती थीं और बड़े-बड़े विद्वानों ने इनका समर्थन किया था। जैसा ऊपर कहा गया है, धर्म का सिद्धांत अटल है, परन्तु देश-काल-पात्र के भेद से उसके विनियोग में भेद होता रहता है। पुराकाल के ब्राह्मणों ने अपने समय के लिए चाहे जो व्यवस्था की हो, परन्तु हमें तो इस समय को देखना है। व्यास, मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर या महात्मा गांधी का नाम तर्क का स्थान नहीं ले सकता। बस, धर्मधर्म की एक ही परख है। यह काम भेद-भाव को कम करता है या बढ़ाता है? लोगों को एक दूसरे से मिलता है या उनमें संघर्ष उत्पन्न करता है। जहाँ कुछ लोगों को केवल अधिकार और कुछ को केवल कर्तव्य बाँटे जाँयेंगे, जहाँ शिक्षक, पण्डित, कवि, साधु और धर्मगुरु अधिकारियों और श्रीमानों के उपजीवी होंगे, जहाँ पुरोहित का लक्ष्य केवल यजमान से धन प्राप्त करना होगा, जहाँ सम्पत्तियों के दरबारी व्यासपीठ से दुर्बलों और दलितों को शांति और संतोष का पाठ पढ़ाने में इति कर्तव्यता समझेंगे, वहाँ कदापि समता, सद्भाव, सहयोग, एकता नहीं रह सकती। वहाँ वैषम्य की आग प्रत्येक दुखी हृदय में दहकती रहेगी। वह ज्वालामुखी एक दिन फूटेगा और क्रांति की लपट न केवल समाज की बुराई वरन् भलाई को भी भस्मसात् कर देगी। जो लोग इसको बचाना चाहते हैं उनका कर्तव्य है कि अन्याय, शोषण, प्रपीड़न, अज्ञान, प्रवंचन का निरन्तर विरोध करें। मनुष्य-मनुष्य में, प्राणी-प्राणी में, सद्भाव और शांति स्थापित करने का यत्न करें। ऐसे वातावरण में ही ऊँची कला, विद्या और विज्ञान पनप सकते हैं; ऐसी परिस्थिति में ही धर्म का अभ्यास निर्बाध और परिपूर्ण हो सकता है; ऐसे समाज में सभी आत्मसाक्षात्कार के इच्छुकों को सुयोग मिलता है। समाज किसी को ब्रह्मज्ञानी नहीं बना सकता, मनुष्य को मनुष्य की भाँति रहने का अवसर दे सकता है। उसका यही धर्म है।

अभ्यास के प्रश्न

- १। समाज में धर्म का स्वरूप कैसा होना चाहिए ? मानव का सर्वोत्तम पुरुषार्थ क्या है ?
- २। राष्ट्र का आंतरिक संगठन किस प्रकार का होना वांछनीय है ?
- ३। धर्म और अधर्म की परख क्या है ?
- ४। निम्नलिखित शब्दों के समासों का विग्रह करते हुए उनके नाम बताइए :—
आत्मसाक्षात्कार, ब्रह्मविविक्तु, राष्ट्र-समुदाय, मनमानी, ब्रह्मज्ञानी, ज्वालामुखी ।

मेरे मालवीयजी

सीताराम चतुर्वेदी

समस्त जाति जिसे अपनाने को व्याकुल हो, समग्र देश जिससे ममत्व जोड़ने का हठ करता हो, समूचा विश्व जिसे परम आत्मीय मानने पर अड़ा बैठा हो, उसे 'मेरे' के परम संकुचित, नितान्त क्षुद्र और अत्यन्त स्वार्थपूर्ण घेरे में बाँध छोड़ना कितनी बड़ी ढिठाई है, कितना बड़ा दुःसाहस है, कितनी बड़ी मूर्खता है यह सभी समझ सकते हैं। किन्तु फिर भी इस ढिठाई, दुःसाहस और मूर्खता के लिये न मुझे संकोच है, न भय है और न पश्चात्ताप ही है। परम संकट में पड़ा हुआ निराश्रित आर्त जब उस अणु-परमाणु में व्याप्त परमात्म तत्त्व को 'मेरे भगवान्' कहकर उसके परम को 'मेरे' की सूक्ष्मतम सीमा में कस डालने का दुराग्रह करता है, उस समय उसके छोटे-से 'मेरे' में घिरा हुआ भगवान् सहसा वामन से त्रिविक्रम बनने लगता है और सम्पूर्ण सृष्टि का ममत्व उस एकाकी के 'मेरे' में इस प्रकार गूँजने लगता है मानो उसके 'मेरे' सहसा सबके 'मेरे' हो गये हों। उसी प्रकार यदि मैं भी उन पुण्यश्लोक ब्रह्मर्षि को 'मेरे' कहकर अपना बताने का आग्रह करूँ तो किसी को बुरा नहीं मानना चाहिए।

अपने जीवन के अत्यन्त संक्षिप्त अतीत के उस पुण्य दिवस को मैं भुलाये नहीं भूल सकता जब सन् १९२० के किसी माङ्गल्य मास में मुजफ्फरनगर जनपद या युक्तप्रान्तीय राष्ट्रीयसभा के अधिवेशन में पहली बार मैंने उन ब्रह्मवर्चस-संयुक्त तेजस्वी महापुरुष के मंगलमय दर्शन किये थे और उनकी अनन्त मधु-स्नाविणी वाणी पर अपनी अबोध बाल्यावस्था में संचित सम्पूर्ण श्रद्धा-विभूति उनके चरणों में चुपचाप अर्पित कर दी थी। उसका परिणाम यह हुआ कि शनैः-शनैः एक रहस्यमयी संकल्प धारा मेरे मानस में निश्चित पथ बनाती हुई इतने प्रबल वेग से बहने लगी कि पूज्य मालवीयजी मेरे

जीवन के, मेरी साधना के, मेरे विश्वास के और प्रवृत्ति के एकमात्र आलोक-दीप बन गये। इस दिव्य आलोक से मैं इतना प्रभावित हुआ कि मैं उनका प्रशंसक ही नहीं, श्रद्धालु भी बन गया, श्रद्धालु ही नहीं पुजारी भी बन गया, पुजारी ही नहीं भक्त भी बन गया।

हाई स्कूल की परीक्षा पास कर चुकने पर जब सभी लोग मुझे मेरठ कालिज में नाम लिखवाने के लिये उत्साहित कर रहे थे, उस समय माताजी के स्नेह, पिताजी के वात्सल्य, भाई-बहनों की ममता, मित्रों के सौहार्द और घर की समीपता, सब पर एक विशाल महत्वाकांक्षा अधिकार किये बैठी थी; वह थी काशी जाने की, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पढ़ने की, विश्वविद्यालय के कुलपति के सम्पर्क में आने की। महत्वाकांक्षा सफल होने वाली थी, क्योंकि पूज्य पिताजी की कृपा से मैं विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हो गया। विश्वविद्यालय के साथ मेरा पैतृक सम्बन्ध भी है, क्योंकि उसकी स्थापना के लिये जो महायज्ञ हुआ था उसके होताओं में मेरे पिताजी भी थे और फिर काशी मेरी जन्मभूमि-जन्मपुरी भी थी, यह भी कम आकर्षण नहीं था।

हिन्दू विश्वविद्यालय में पहुँचने पर मैं किस ऐतिहासिक क्रम से उनके समीप, समीपतर और समीपतम पहुँच गया यह मैं स्वयं नहीं कह सकता, किन्तु पहुँचकर उनका वात्सल्य-भाजन और विश्वास-पात्र बन गया, यह मैं कह सकता हूँ, और बड़े गर्व से कह सकता हूँ।

कल्पना के नेत्रों से मैं देख रहा हूँ कि वे व्यासपीठ पर बैठे हैं पलथी जमाये। चारों ओर, अध्यापक, छात्र और छात्राओं का विशाल समूह एक दृष्टि होकर उनके दर्शन कर रहा है, एकाग्र होकर उन्हें सुन रहा है। और मैं कल्पना के कानों से अब भी सुन रहा हूँ—“विदुला का पुत्र युद्ध से लौटकर चला आया। विदुला ने पूछा—क्या विजय लेकर लौटे हो? उसने कहा—नहीं, मैं युद्ध नहीं चाहता, मैं व्यर्थ इतने प्राणियों का संहार नहीं करना चाहता। राज्य जाता है तो जाय। विदुला कड़ककर गरज उठी—कायर! मेरी कोख से, क्षत्रिया की कोख से जन्म लेकर तू इस प्रकार की, भगोड़ेपन की, निर्वीर्यता

की बात करता है, तुझे धिक्कार है। यदि तू क्षत्रिय का पुत्र है तो जा, तत्काल चला जा युद्धक्षेत्र में, लड़ते-लड़ते प्राण भी दे दे तो भी श्रेय है—

‘क्षणं प्रज्ज्वलितं श्रेयो—

न च धूमायितं चिरम्।

—क्षण-भर के लिये भी भभककर जलना अच्छा है किन्तु बहुत दिनों तक धुआँ देते हुए धीरे-धीरे सुलगना अच्छा नहीं है।’ चला गया विदुला का पुत्र और लौटा विजय लेकर।”

मैं फिर सुन रहा हूँ उनकी वाणी। वे कहते जा रहे हैं महाभारत की कथा, और अर्जुन का प्रसंग आते ही सहसा अपने मधुर स्वर को ऊँचा उठाते हुए कहने लगते हैं—“विद्यार्थियो और विद्यार्थिनियो ! अर्जुन की दो प्रतिज्ञाएँ थीं—न मैं दीनता के साथ किसी के आगे गिड़गिड़ाऊँगा और न पीठ दिखाकर भागूँगा। ‘अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वै न दैन्यं न च पलायनम्।’ आप लोग भी ऐसे ही बनें। कभी किसी के आगे अपना सिर न झुकने दो और जो आवे उसे ललकार दो।” उसी धारा में उपसंहार करते हुए वे कहते हैं—

“सत्येन ब्रह्मचर्येण व्यायामेना विद्यया।

देशभक्त्याऽऽत्मत्यागेन-सम्मानार्हः सदा भव ॥

सत्य से, ब्रह्मचर्य से, व्यायाम से, विद्या से, देशभक्ति से, आत्म-त्याग से, सदा सम्मान पाओ।”

मैं फिर देख रहा हूँ कि सन्ध्या समय एक छात्रावास में वे घूम रहे हैं। उनके साथ हैं आचार्य आनन्दशंकर, बापूभाई ध्रुवजी और उनके पीछे-पीछे चले जा रहे हैं श्री लक्ष्मणदासजी इंजीनियर। एक छात्र भीतर की कोठरी में बैठा पढ़ रहा है। वह इन्हें देख कर सकपका कर उठ खड़ा होता है। और ये अपनी लोक-विश्रुत स्वाभाविक मुसकान के साथ कहते हैं, “अरे ! इतना पढ़ते हो। बुद्धि तो बढ़नी ही चाहिये पर शरीर भी बढ़ना चाहिये। क्या करोगे बहुत बुद्धि लेकर ; जब कोई आकर तुम्हें उठाकर पटक देगा। देखो एक दोहा कंठस्थ कर लो—

दूध पियो कसरत करो, नित्य जपो हरि नाम ।

मन लगाइ विद्या पढ़ो, पूरे हों सब काम ॥—

कहो दोहे को ।” वह विद्यार्थी भी दोहा कहने लगता है । आचार्य ध्रुवजी अपनी छड़ी दोनों हाथों से पकड़े हुए, उसकी गोल मूठ कंधे पर जमाये देव रहे हैं हिन्दू-विश्वविद्यालय के कुलाति की शिक्षा-प्रणाली ।

विश्वविद्यालय के दीक्षांत-समारोह के अवसर पर उनके उपदेशों की ध्वनि आज तक मैं स्पष्ट सुन रहा हूँ :—“सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । मातृ देवो भव । आचार्य देवो भव ।” और दीक्षान्त भाषण में वे कहते जा रहे हैं—“हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना इसलिये की गई है कि यहाँ के छात्र विद्या भी प्राप्त करे और साथ ही अपने धर्म और अपने देश के भी सच्चे सेवक बनें । यह विश्वविद्यालय दोनों के लिये है । यहाँ के द्वार सबके लिये खुले हुए हैं । मैं चाहता हूँ कि यहाँ आकर कोई लौट कर न जाय । सच्चरित्रता हमारे विश्वविद्यालय का मूल मंत्र है और यही हमारी शोभा है । हम प्रत्येक छात्र को शुद्ध, सात्विक, तेजस्वी और वीर मनुष्य बनाना चाहते हैं जो ईश्वर में विश्वास करे, प्रत्येक प्राणी का आदर करे, वीरता के साथ अन्याय का विरोध करे और आत्म-सम्मान के साथ, सचाई के साथ जीविका चलाता हुआ, अपना, समाज का और देश का कल्याण कर सके ।”

आज वे दिन नहीं रहे और वे मालवीयजी भी नहीं रहे—

“नैनन में जो सदा रहते, तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करें ।”

किन्तु उनके न रहने पर भी उनके उपदेश चिरजीवी हैं, उनके आदर्श अमर हैं, उनकी रचनाएँ सुचिर प्रतिष्ठित हैं । भावी जाति में दृढ़-संकल्पता, अध्यवसाय, लोक-कल्याण और आत्मत्याग की सजीव भावना भरने के लिए उनका हिन्दू विश्वविद्यालय शतशः स्वरूप लेकर उनकी अमर कीर्ति का गुणगान कर रहा है ; किन्तु फिर भी मालवीयजी की स्मृति हटती नहीं है । उनकी अनुपस्थिति निरन्तर खटकती है, क्योंकि जिस आत्मभाव से विश्व-विद्यालय के प्रत्येक छात्र के हृदय में, विश्वविद्यालय की ईंट-ईंट में, वृक्ष-वृक्ष

में, कण-कण में वे व्याप्त थे, वह आत्मभाव कहीं देखने को नहीं मिल रहा है। यों तो राम गये और कृष्ण भी गये और फिर भी संसार चला ही जा रहा है, हँसता-खेलता, रोता-गाता, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या वह उसी प्रकार चला जा रहा जैसा चाहिये था ?

पुण्यश्लोक मालवीयजी के गुणानुकीर्तन के लिये, उनकी सर्वतोमुखी क्रियाओं की व्याख्या के लिये उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं की सरणि बनाने के लिये जिस योग्यता की अपेक्षा होनी चाहिये उसके सर्वथा अभाव में वाणी सहसा मूक हो जाती है और 'नेति' का सीधा-सा, सरल-सा, आधार लेकर मौन रहने के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं रह जाता। वे धर्मनिष्ठ पुरुष थे, आचार में भी, विचार में भी। यदि व्यासजी के अनुसार लोक-कल्याण को ही हम धर्म की कसीटी मान ले तो मालवीयजी की रेखा उस पर सबसे अधिक प्रदीप्त दिखाई देगी। शिक्षा के क्षेत्र में जिन फोबेल ; मौन्तेसारी, रूसो, पैस्तालौजी आदि शिक्षा-शास्त्रियों की नामावली ने संसार को प्रभावित कर रखा है वे सब एकत्र होकर भी मालवीयजी तक नहीं पहुँच सकते ; क्योंकि इन सबने जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं उन सब का लक्ष्य सामाजिक दृष्टि से मनुष्य के बच्चे को जोने योग्य मनुष्य बना देना भर है। किन्तु मालवीयजी की शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य के बच्चे को केवल मनुष्य ही नहीं बल्कि देवता बना देने का है जिसकी संसार पूजा करे, जिससे शक्ति, उत्साह और प्रेरणा का वरदान माँगे, जिसके आशीर्वाद से जीवन के सम्पूर्ण देवी तत्त्व प्राप्त कर सके। किस शिक्षा-शास्त्री ने यह कल्पना की है ?

राजनीतिक क्षेत्र में उन्होंने जिस अध्यवसाय, जिस साहस और जिस आत्म-त्याग का प्रदर्शन किया है वह उनका अलौकिक कार्य है। शब्दों की शक्ति उस तक पहुँचने में भी अशक्त हो रही है। किन्तु सबसे अधिक प्रभावशाली उनका व्यक्तित्व था, वे स्वयं थे।

प्रत्येक व्यक्ति को सदा यह अधिकार था कि वह उनसे जब चाहे जाकर मिले, चाहे जितनी देर तक उनसे बातचीत करे और चाहे जिस काम के लिये उनसे पत्र लिखवा ले। और वे अतुलित धैर्य के साथ सबकी बातें

एकाग्र होकर सुनते, दुःखी के दुःख में स्वयं भी रोने लगते, और जिस प्रकार हो सकता उसे निराश न लौटने देते। न जाने कितनी बार ऐसा हुआ है कि केवल सहायता और लोक-कल्याण के लिये उन्होंने नियमों की भी चिन्ता नहीं की।

मनुष्यता ही उनका नियम था, और देवत्व उनका गुण था। कभी सुना करते थे:—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि, धन्यास्तु ते भारतभूमि भागे।

स्वर्गापिर्वागस्थ च हेतु भूने भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥

‘देवता लोग यह गीत गाते हैं कि वे धन्य हैं जो स्वर्ग और अपवर्ग के लिये सहायक भारतवर्ष में मनुष्य होकर जन्म लेते हैं।’

मालवीयजी भी ऐसे ही कोई देवता थे जो हम लोगों के महापुण्य के कारण यहाँ आये और हमें शक्ति देकर, साधन देकर, अन्तर्धान हो गये और अन्तर्धान होने के पूर्व सम्पूर्ण देश को जो उन्होंने दिव्य संदेश और आदेश दिया है, वह उनकी स्मृति को चिरस्थायी करने को अकेला ही पर्याप्त है।

यदि मैं उनसे अपने निकटतम सम्पर्क को थोड़ी देरके लिये भूल भी जाऊँ, तब भी उनके देवत्व का ध्यान करके मैं भक्त की तन्मयता से साहस, शक्ति और स्फूर्ति प्राप्त करने के लिये ही उन्हें पुकार सकता हूँ —“मेरे मालवीयजी !”

अभ्यास के प्रश्न

- १। विद्यार्थियों के लिए मालवीयजी की जिन प्रेरणात्मक उक्तियों का उल्लेख इस पाठ में हुआ है, उन्हें एकत्र करके एक छोटा सा निबंध लिखिए।
- २। हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना मालवीयजी ने किस उद्देश्य से की थी? शिक्षा का उनका आदर्श क्या था? दस बारह वाक्यों में स्पष्ट कोजिए।
- ३। अर्जुन को दो प्रतिज्ञाएँ कौन सी थीं? संस्कृत की जो सूक्तियाँ इस पाठ में उद्धृत हैं, उन्हें कण्ठस्थ कोजिए।
- ४। “सत्यं वद, धर्मं चर..... कल्याण कर सके।” उक्त उद्धरण की व्याख्या कोजिए।

गूदड़ साँई

जयशंकर 'प्रसाद'

“साँई ! ओ साँई !!” एक लड़के ने पुकारा । साँई घूम पड़ा । उसने देखा कि एक आठ वर्ष का बालक उसे पुकार रहा है ।

आज कई दिन पर उस मुहल्ले में साँई दिखलाई पड़ा है । साँई बैरागी था—माया नहीं, मोह नहीं । परन्तु कुछ दिनों से उसकी आदत पड़ गई थी कि दोपहर को मोहन के घर जाता, अपने दो-तीन गंदे गूदड़ यत्न से रख कर उन्हीं पर बैठ जाता और मोहन से बातें करता । जब कभी मोहन उसे गरीब और भिखमंगा जानकर, माँ से अभिमान करके, पिता की नज़र बचा कर कुछ साग-रोटी लाकर दे देता, तब उस साँई के मुख पर पवित्र मंत्री के भावों का साम्राज्य छा जाता । गूदड़ साँई उस समय दस वर्ष के बालक के समान, अभिमान, सराहना और उलाहनों के आदान-प्रदान के बाद उसे बड़े चाव से खा लेता । मोहन की दी हुई एक रोटी उसकी अक्षय तृप्ति का कारण होती ।

एक दिन मोहन के पिता ने उसे देख लिया । वह बहुत बिगड़े । वह थे पाश्चात्य शिक्षा के रंग में रंगे हुए । ढोंगी फकीरों पर उनको साधारण और स्वाभाविक चिढ़ थी । मोहन को डाँटा कि वह इन लोगों के साथ बातें न किया करे । साँई हँस पड़ा, चला गया ।

उसके बाद आज कई दिन पर साँई आया और वह जान-बूझकर उस बालक के मकान की ओर नहीं गया ; परन्तु पढ़कर लौटते हुए मोहन ने उसे देख कर पुकारा और साँई लौट आया ।

“मोहन !”

“तुम आजकल आते नहीं ?”

“तुम्हारे बाबा बिगड़ते थे।”

“नहीं, तुम रोटी ले जाया करो।”

“भूख नहीं लगती।”

“अच्छा, कल जरूर आना, भूलना मत !”

इतने में एक दूसरा लड़का साईं का गूदड़ खींच कर भागा। गूदड़ लेने के लिए साईं उस लड़के के पीछे दौड़ा। मोहन खड़ा देखता रहा, साईं आँखों से ओझल हो गया।

चौराहे तक दौड़ते-दौड़ते साईं को ठोकर लगी, वह गिर पड़ा, सिर से खून बहने लगा। खिझाने के लिये जो लड़का उसका गूदड़ लेकर भागा था, वह डर कर ठिठक रहा। दूसरी ओर से मोहन के पिता ने उसे पकड़ लिया और दूसरे हाथ से साईं को भी पकड़ कर उठाया। नटखट लड़के के सिर पर चपत पड़ने लगी, साईं उठ कर खड़ा हो गया।

‘मत मारो, मत मारो, चोट आती होगी’ ! साईं ने कहा, और लड़के को छुड़ाने लगा। मोहन के पिता ने साईं से पूछा—“तब चीथड़े के लिये दौड़ते क्यों थे ?”

सिर फटने पर भी जिस को रुलाई नहीं आई थी, वही साईं लड़के को रोते देखकर रोने लगा। उसने कहा—“बाबा, मेरे पास दूसरी कौन वस्तु है, जिसे देकर इन ‘रामरूप’ भगवान् को प्रसन्न करता ?”

“तो क्या तुम इसीलिए गूदड़ रखते हो ?”

“इस चीथड़े को लेकर भागते हैं भगवान्, और मैं उनसे लड़ कर छिन लेता हूँ, रखता हूँ फिर उन्हीं से छिनवाने के लिए। उनके मनोविनोद के लिए। सोने का खिलौना तो उचक्के भी छिनते हैं, पर चीथड़ों पर भगवान् ही दया करते हैं”—इतना कहकर बालक का मुँह पोंछते हुए मित्र के समान गलबाहीं डाले हुए साईं चला गया।

मोहन के पिता आश्चर्य से बोले—“गूदड़ साईं ! तुम निरे गूदड़ नहीं ; गुदड़ी के लाल हो !!”

अभ्यास के प्रश्न

- १। गूदड़ साईं का चरित्र-चित्रण कीजिए।
- २। इस कहानी में लेखक ने गूदड़ साईं के मुख से हमें कौन-सा सन्देश दिलाया है ?
- ३। “प्रसादजी की इस कहानी का सबसे बड़ा गुण है उसकी कोमलता, सरलता, ऊँचाई और गहराई”—इस कथन का आशय लिखते हुए ‘प्रसाद’जी की शैली का परिचय दीजिए।
- ४। निम्नलिखित वाक्यों का अर्थ स्पष्ट कीजिए :—
 - (अ) सोने का खिलौना तो उच्चक्के भी छीनते हैं, पर चीथड़ों पर भगवान् ही दया करते हैं।
 - (आ) गूदड़ साईं ! तुम निरे गूदड़ नहीं, गुदड़ी के लाल हो !

तुलसी का भक्ति-मार्ग

रामचन्द्र शुक्ल

भक्ति-रस का पूर्ण परिष्पाक जैसा तुलसीदासजी में देखा जाता है वैसा अन्यत्र नहीं। तुलसी के हृदय से ऐसे निर्मल शब्द-स्रोत निकले हैं, जिनमें अवगाहन करने से मन की मँल कटती है और अत्यन्त पवित्र प्रफुल्लता आती है। गोस्वामीजी के भक्ति-क्षेत्र में शील, शक्ति और सौन्दर्य तीनों की प्रतिष्ठा है।

यह प्राचीन भक्ति-मार्ग एकदेशीय आधार पर स्थित नहीं, यह एकांगदर्शी नहीं। यह हमारे हृदय को ऐसा नहीं करना चाहता कि हम केवल व्रत-उपवास करनेवालों और उपदेश करनेवालों ही पर श्रद्धा रखें और जो लोग संसार के पदार्थों का उचिन् उपभोग करके अपनी विशाल भुजाओं से रणक्षेत्र में अत्याचारियों का दमन करते हैं, या अपनी अन्तर्दृष्टि की साधना और शारीरिक अध्यवसाय के बल से मनुष्य-जाति के ज्ञान की वृद्धि करते हैं, उनके प्रति उदासीन रहे। गोस्वामीजी की रामभक्ति वह दिव्य वृत्ति है जिससे जीवन में शक्ति, सरसता, प्रफुल्लता, पवित्रता सब कुछ प्राप्त हो सकती है। राम में सौन्दर्य, शक्ति और शील तीनों की चरम अभिव्यक्ति एक साथ समन्वित होकर मनुष्य के सम्पूर्ण हृदय को—उसके किसी एक ही अंश को नहीं—आकर्षित कर लेती है। कोरी साधुता का उपदेश पाखंड है, कोरी वीरता का उपदेश उद्दण्डता है, कोरे ज्ञान का उपदेश आलस्य है और कोरी चतुराई का उपदेश धूर्तता है।

सूर और तुलसी को हमें उपदेशक के रूप में न देखना चाहिए। वे उपदेशक नहीं हैं, अपनी भावुकता और प्रतिभा के बल से लोक-व्यापार के भीतर भगवान् की मनोहर मूर्ति प्रतिष्ठित करनेवाले हैं। हमारा प्राचीन

भक्ति-मार्ग उपदेशकों की सृष्टि करनेवाला नहीं है। न भक्तों के राम और कृष्ण उपदेशक, न उनके अनन्य भक्त तुलसी और सूर। लोकव्यवहार में मग्न होकर जो मंगल-ज्योति इन अवतारों ने उसके भीतर जगाई, उसके माधुर्य का अनेक रूपों में साक्षात्कार करके मुग्ध होना और मुग्ध करना ही इन भक्तों का प्रधान व्यवसाय है। उनका शस्त्र भी मानव-हृदय है और लक्ष्य भी। उपदेशों का ग्रहण ऊपर ही ऊपर से होता है। न वे हृदय के मर्म को ही भेद सकते हैं, न बुद्धि की कसौटी पर ही स्थिर भाव से जमे रह सकते हैं। हृदय तो उनकी ओर मुड़ता ही नहीं और बुद्धि उनको लेकर अनेक दार्शनिक वादों के बीच जा उलझती है। उपदेश, वाद या तर्क गोस्वामीजी के अनुसार 'वाक्य-ज्ञान' मात्र कराते हैं, जिससे जीव-कल्याण का लक्ष्य पूरा नहीं होता—

वाक्य-ज्ञान अत्यन्त निपुण भव पार न पावै कोई ।

निसि गृह मध्य दीप की बातिन तम निवृत्त नहिँ होई ॥

'वाक्य-ज्ञान' और बात है, अनुभूति और बात। इसी से प्राचीन परंपरा के भक्त लोग उपदेश, वाद या तर्क की अपेक्षा चरित्र-श्रवण और चरित्र-कीर्तन आदि का ही अधिक नाम लिया करते हैं।

प्राचीन भागवत सम्प्रदाय के बीच भगवान् के लोक-रंजनकारी रूप की प्रतिष्ठा हुई। उसी मनोहर रूप की अनुभूति से गद्गद और पुलकित होना, उसी रूप की एक-एक छटा को औरों के सामने भी रखकर उन्हें मानव-जीवन के सौन्दर्य-साधन में प्रवृत्त करना भक्तों का काम है।

गोस्वामीजी ने अनंत सौन्दर्य का साक्षात्कार करके उसके भीतर ही अनंत शक्ति और अनंत शील की झलक दिखाई है। सौन्दर्य, शक्ति और शील, तीनों में मनुष्यमात्र के लिए आकर्षण विद्यमान है।

इसी हृदय-पद्धति द्वारा ही मनुष्य में शील और सदाचार का स्थायी संस्कार जम सकता है। दूसरी कोई पद्धति है ही नहीं। अनन्त शक्ति और अनन्त सौन्दर्य के बीच से अनन्त शील की आभा फूटती देख जिसका मन मुग्ध न हुआ, जो भगवान की लोकरंजन मूर्ति के मधुर ध्यान

में कभी लीन न हुआ, उसकी प्रकृति की कटुता बिलकुल दूर नहीं हो सकती।

भक्ति का मूल तत्त्व है महत्त्व की अनुभूति। इस अनुभूति के साथ ही दैन्य अर्थात् अपने लघुत्व की भावना का उदय होता है। इस भावना को दो ही पंक्तियों में गोस्वामीजी ने बड़े ही सीधे-सादे ढंग से व्यक्त कर दिया है—

राम सों बड़ो है कौन, मोसों कौन छोटा ?

राम सों खरो है कौन, मोसों कौन खोटो ?

प्रभु के महत्त्व के सामने होते ही भक्त के हृदय में अपने लघुत्व का अनुभव होने लगता है। उसे जिस प्रकार प्रभु का महत्त्व वर्णन करने में आनन्द आता है, उसी प्रकार अपना लघुत्व वर्णन करने में भी। प्रभु की अनंत शक्ति के प्रकाश में उसकी असामर्थ्य का, उसकी दीन दशा का, बहुत साफ चित्र दिखाई पड़ता है, और वह अपने-ऐसा दीन-हीन संसार में किसी को नहीं देखता। प्रभु के अनंत शील और पवित्रता के सामने उसे अपने में दोष ही दोष और पाप ही पाप दिखाई पड़ने लगते हैं। इस अवस्था को प्राप्त भक्त अपने दोषों, पापों और त्रुटियों को अत्यन्त अधिक परिमाण में देखता है और उनका जी खोलकर वर्णन करने में बहुत कुछ संतोष लाभ करता है। दम्भ, अभिमान, छल, कपट आदि में से कोई उस समय बाधक नहीं हो सकता। इस प्रकार अपने पापों की पूरी सूचना देने से जी का बोझ ही नहीं, सिर का बोझ भी कुछ हलका हो जाता है। भक्त के सुधार का भार उसी पर न रहकर बँट-सा जाता है। दैन्य भक्तों का बड़ा भारी बल है।

दिन-रात स्वामी के पास रहते-रहते जिस प्रकार सेवक की कुछ धड़क खुल जाती है, उसी प्रकार प्रभु के सतत ध्यान से जो सान्निध्य की अनुभूति भक्त के हृदय में उत्पन्न होती है, उसके कारण वह कभी-कभी मीठा उपालंभ भी देता है।

भक्ति में लेन-देन का भाव नहीं रह जाता। भक्ति के बदले में उत्तम

गति मिलेगी, इस भावना को लेकर भक्ति हो ही नहीं सकती। भक्त के लिए भक्ति का आनन्द ही उसका फल है। वह शक्ति, सौन्दर्य और शील के अनंत समुद्र के तट पर खड़ा होकर लहरें लेने में ही जीवन का परम फल मानता है।

गोस्वामीजी एक बार वृन्दावन गए थे। वहाँ किसी कृष्णोपासक ने उन्हें छेड़कर कहा—“आपके राम तो बारह ही कला के अवतार हैं। आप श्रीकृष्ण की भक्ति क्यों नहीं करते जो सोलह कला के अवतार हैं?” गोस्वामीजी बड़े भोलेपन के साथ बोले—“हमारे राम अवतार भी है, यह हमें आज मालूम हुआ।” राम भगवान् के अवतार हैं इससे उत्तम फल या उत्तम गति दे सकते हैं, बुद्धि के इस निर्णय पर तुलसी राम से भक्ति करने लगे हों, यह बात नहीं है। राम तुलसी को अच्छे लगते हैं, उनके प्रेम का यदि कोई कारण है तो यही।

जो जगदीस तौ अति भली, जो महीस तौ भाग।

तुलसी चाहत जनम भरि, राम-चरन अनुराग॥

तुलसी को राम का लोकरंजन रूप वैसा ही प्रिय लगता है जैसा चातक को मेघ का लोक-मुखदायी रूप। राम प्रिय लगन लगे, राम की भक्ति प्राप्त हो गई, इसका पता कैसे लग सकता है? इसका लक्षण है मन का आप-से-आप मुशीलता की ओर ढल पड़ना—

तुम अपनायो, तब जनिहौं जब मन फिरि परिहूँ।

भक्त यही चाहता है कि प्रभु के सौन्दर्य, शक्ति आदि की अनंतता की जो मधुर भावना है वह अबाध रहे, उसमें किसी प्रकार की कसर न आने पाए। अपने ऐसे पापी की सुगति को वह प्रभु की शक्ति का एक चमत्कार समझता है। अतः उसे यदि सुगति न प्राप्त हुई तो उसे इसका पछतावा न होगा; पछतावा होगा इस बात का कि प्रभु की अनंत शक्ति की भावना बाधित हो गई—

नाहिं न नरक परत मो कहूँ डर यद्यपि हीं अति हारो।

यह बड़ि त्रास दास तुलसी कहूँ नामहु पाप न जारो॥

अभ्यास के प्रश्न

- १। तुलसीदासजी ने श्रीराम के किस रूप का चित्रण किया है ? इस स्वरूप की प्रधान विशेषताएँ क्या हैं ?
- २। क्या सूरदास और तुलसीदास उपदेशक थे ? उनके काव्य में हृदय को छूने तथा संसार का कल्याण करने की शक्ति कहाँ से आई ?
- ३। गोस्वामी तुलसीदासजी के भक्ति-मार्ग की सामान्य विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
- ४। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की निबन्ध शैली का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
- ५। निम्नलिखित उद्धरणों का सरल भाषा में अर्थ लिखिए :—
 - (क) कोरी साधुता का उपदेश..... धूर्तता है। (पृ०.....१५३)
 - (ख) गोस्वामी जी ने अनंत सौन्दर्य का साक्षात्कार करके..... भलक दिखाई है। (पृ०.....१५४)
 - (ग) प्रभु के महत्त्व के सामने हांते ही.....करने में भी। (पृ०.....१५५)
 - (घ) भक्ति में लेन-देन.....फल मानता है। (पृ०.....१५५)

दो पर्वत-पुत्र

महादेवी वर्मा

बादामी रंग के पुराने कागज के टुकड़े पर लिखी हुई रसीद उँगलियों में थामे हुए जब मैं कुलियों के चित्रगुप्त अर्थात् ठेकेदार की ओर से मुँह फेर कर बाहर, बुझने से पहले जल उठने वाले दीपक जैसी सन्ध्या को, देखने लगी तब उन्हें अपनी अधीनस्थ आत्माओं का लेखा-जोखा और अपनी महत्ता का वर्णन रोकना पड़ा। कई बार खाँस-खाँस कर जब वृद्ध महोदय श्रोता की उदासीनता भंग न कर सके तब कुछ आगे की ओर झुके हुए, दाहिने कान में मटमैला टूटे निबवाला कलम खोंस कर और टेढ़ी-मेढ़ी उँगलियों में, बिना ढक्कनवाली और पानी मिली हुई फीकी स्याही से भरी दावात यत्न से दबाकर, धीरे-धीरे सीढ़ियों से नीचे उतर गए। और उनके पीठ फेरते ही कितने ही कुली मेरे कमरे के सामने एकत्र होने लगे।

ये डोटियाल संज्ञाधारी जीव भी विचित्र हैं। नैपाल, भूटान आदि से जो कुली इस ओर आते हैं उनकी विशेषता का मापदण्ड बोझा उठाने की शक्ति मात्र है। उनमें प्रायः छोटे से छोटा कुली भी डेढ़-दो मन का बोझ उठाकर ऊँचे पहाड़ों की मीलों लम्बी चढ़ाई पार कर जाता है। पर रूप में ये सब शिव के बराती हैं—केवल वे कुरूप हैं दीन नहीं, और ये दीन अधिक हैं कुरूप कम!

कोई टाट का सिला विचित्र पंजामा और फटे हुए काले खुरदरे कम्बल का गिलाफ़ जैसा कुरता गले में लटकाये भालू के समान घूम रहा है। कोई कोपीनधारी तार-तार फटा सूती कोट पहने, कमर से बोझ बाँधने की मोटी रस्सी लपेटे और रूखे खड़े बालों को खुजलाता हुआ साही जैसा काँटेदार जन्तु जान पड़ता है। किसी के कठिन एड़ी और ऐंठी फैंली उँगलियों वाले

पैर सड़क कूटने के दुर्मुठ से स्पर्धा करते हैं और किसी के स्वरचित मूँज की खुरदरी चट्टी में सिकुड़-बँध कर, पंजे की भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं।

कोई धूप में बैठ कर कपड़ों में से जुयें बीनता हुआ बानर का स्मरण दिलाता है और कोई दूकानदार से माँग-जाँच कर मुख तथा हाथ-पैर में मले हुए तेल के कारण जल से बाहर निकले हुए जलजन्तु की तरह चमकता है। ये भी मनुष्य हैं, इसे हम अभ्यासवश ही समझते हैं—इनमें मनुष्य का रूप पाकर नहीं।

ऐसे विविध अद्भुत रूपों की भीड़ देखकर मेरी मौमी तो कोने में दबकर बैठ गई और भक्तिन बाहर देहली पर खड़ी होकर विस्मय की मुद्रा से उनका निरीक्षण-परीक्षण करने लगी, क्योंकि दैन्य और विचित्रता का ऐसा समन्वय तो हमारे गाँवों में भी नहीं मिलता। मैंने कुछ उदासीन भाव से कहा 'तुम सब जाओ, हमारा कुली जंगबहादुर है, उसी को भेज दो।'।

मेरी बात समझकर उनमें परस्पर देखादेखी होने लगी—भीड़ में से कोई विशेष साहसी बोला 'माई जी ई है जंगिया'। मैं इस नाम में जंगबहादुर को नहीं पहचान पाई, अतः फिर कहा—'जंगबहादुर को बुलाओ।'।

वे विस्मित-से एक-दूसरे को धकियाने लगे। फिर एक व्यक्ति को आगे ठेल कर दूसरे ने कहा—'यई तो जंगिया बोलता है।' जिसे ढकेला था उसमें अपने कुली के उपयुक्त महत्ता का लेशमात्र न पाकर मैंने सन्देह से प्रश्न किया—'क्या नाम है तुम्हारा?' उत्तर मिला—जंगबहादुर सिंह।

नाम ने नाम के आधार को ठीक से देखना आवश्यक कर दिया। पर्वतीय पथ और पत्थरों की चोट से टूटे हुए नाखून और चुटोली उँगलियों के बीच में ढाल बनी हुई मूँज की चप्पल मानो मनुष्य को पशु बनाकर भी खुर न देनेवाले परमात्मा का उपहास कर रही थी। पाँव से दो बालिशत ऊँचा और ऊनी, सूती पैबन्दों से बना हुआ पैजामा मनुष्य की लज्जाशीलता की विडम्बना जैसा लगता था। किसी से कभी मिले हुए पुराने कोट में, नीचे के मटमैले अस्तर की भाँकी देती हुई ऊपरी तह तार-तार फटकर झालरदार हो उठी थी और अब अपने पहनने वाले को एक झबरे जन्तु की

भूमिका में उपस्थित करती थी। अस्पष्ट रंग और अनिश्चित रूप वाली दोपलिया टोपी के छेदों से रूखे वाल जहाँ-तहाँ भाँककर मँले पानी और उसके बीच-बीच में भाँकते हुए सेवार की स्मृति करा देते थे।

घनी भौंहों के नीचे मुख चौड़ा और नाक कुछ गोल हो गई थी। हँसी से निरन्तर खुले हुए ओठों के काने कान तक फैल कर गाल और कान के अन्तर को छिपा देते थे। छोटी और विरल मूँछों के काली डोरी जैसे छोर मुँह के दोनों ओर भूल कर, छोटे-छोटे दाँतों से प्रकट होने वाले बचपन का विरोध कर रहे थे। एक ओर संकीर्ण माथे और दूसरी ओर छोटी गोल ठुड्डी से सीमित चौड़े मुख को, रोककर पोंछी हुई सी छोटी आँखें वही सजल झलक देती थी जो रेगिस्तान के जलाशय में सम्भव है। गेहुँआ रंग निरन्तर धूप में रहने के कारण कहीं पुराने ताँवे जैसा और कहीं भाईदार हो गया था। बाँध बाँधने की गाँठगँठौली पुरानी रस्सी का एक छोर गले की माला बनता हुआ कंधे से लटक रहा था, दूसरा कमरबन्द बनकर कोट के भबरेपन में कहीं छिपा कहीं प्रकट था। ऐसा ही था वह जंगवहादुर सिंह उर्फ जंगिया। उसे अपने भाई धनसिंह के साथ मेरा सामान लेकर केदारनाथ होते हुए बदरिकानाथपुरी तक जाना और श्रीनगर लौटना था। एक रुपया प्रतिदिन के हिसाब से प्रत्येक की मजदूरी तय हुई थी जिसमें से एक आना फ्री रुपया कमीशन ठेकेदार का प्राप्य था।

‘तुम्हारा भाई कहाँ है’ पूछते ही ‘धनिया ओ धनिया’ की पुकार मच गई। पर बार-बार सबके ढकेलने पर भी जो भाई के पीछे ही अड़ा रहा, उसे मैंने बिना किसी के बताये ही धनसिंह समझ लिया। जंगवहादुर का चेहरा भी अपने छोटेपन के प्रति इतना सतर्क था कि उसे देखकर किसी पौराणिक अनुज का स्मरण हो आता था। गोल-मटोल कुछ पुष्ट शरीर वाले धनिया की आकृति भी उसके स्वभाव के अनुरूप थी। विरल भूरी भौंहों की सरल रेखा और छोटी नाक की कुछ नुकीली नोक उसकी सरलता का भी परिचय देती थी तथा तेजस्विता का भी। ओठों का दाहिना कोना कुछ ऊपर की ओर खिंचा-सा रहता था, जिससे उसके मुख पर मुस्कराने का भाव

स्थायी हो गया था। रंग की स्वच्छता और त्वचा की चिकनाहट से प्रकट होता था कि कुली जीवन की सारी कठोरता उसने अभी नहीं भेली है। टाट के पुराने पैजामों और जीन के फटे कोट ने उसे पराजित सिपाही की भूमिका दे डाली थी जो उसके मुख के भाव के साथ विरोधाभास उत्पन्न करती थी।

पहाड़ के ऊँचे-नीचे रास्ते में मुझे अपना और अपने साथियों का जीवन इन्हें सौंपना होगा और मार्ग में जीवन की सब सुविधाओं के लिए ये मेरे संरक्षण में आ गए हैं, इस विचार ने उन दोनों कुलियों के प्रति मेरे मन में अयाचित ममता उत्पन्न कर दी। मैंने कहा—तुम दोनों सामान देख लो ; अधिक लगे तो एक कुली और ठीक कर लिया जायगा।

आगे आगे जंगिया और पीछे पीछे धनिया ने कमरे में पैर रखा और मौसी तथा भक्तिन को विस्मित करते हुए वे भारी बंडलों को अनायास उठा-उठाकर बोझ का अनुमान लगाने लगे।

मैं पैदल ही लम्बी-लम्बी पर्वतीय यात्राएँ कर चुकी हूँ जिनमें सफलता का मूलमन्त्र सामान कम रखना हो माना जाता है। अतः इस सम्बन्ध में मुझ से भूल होना सम्भव नहीं। फिर मैं यह विश्वास नहीं करती कि जिन यात्राओं में खाद्य सामग्री मिल जाने की सुविधाएँ हैं, वहाँ भी घी के पीपे और बिस्कुट के बीसियों टिन ढोते फिरा जाय। हिम के सुन्दर त्रिखरों की छाया में पॉल्सन का बटर और हन्टले पामर्स के बिस्कुट खाना मेरी समझ में कम आता है, पर वही लकड़ों-कण्डे बटार कर आलू भूनने और बाटी बनाने का सुख मैं विशेष रूप से जानती हूँ। मेरी मौसी अवश्य कुछ अधिक सामान ले जाने की इच्छा रखती थीं, परन्तु मेरी छोटी सी इच्छा को भी बहुत मूल्य देने का उनका स्वभाव है। उनके बेटे जिन तीर्थों में उन्हें नहीं ले जा सकते वहीं मैं ले जा रही हूँ, अतः मैं सब बेटों से बड़ी हूँ और मेरी बुद्धि सब प्रकार विश्वसनीय है, इस सम्बन्ध में उन्हें कोई सन्देह नहीं था !

इस प्रकार सबके इने-गिने कपड़े, पर सारे बिस्तर, दवा का बक्स, कपड़े साफ़ करने के लिए साबुन आदि आवश्यक वस्तुएँ ही साथ थीं, जिन्हें जंग बहादुर ने पास कर दिया और दूसरे दिन सबरे ही हमारी यात्रा आरम्भ हुई।

ऐसी यात्रा में चलचित्र के सवान जो जीवन दिखाई देता है उससे हम किसी जाति के सम्बन्ध में ऐसा बहुत कुछ ज्ञातव्य जान सकते हैं जो अन्य किसी प्रकार सम्भव नहीं ।

घर में व्यक्ति अपने आश्रितों और सेवकों के प्रति अपने व्यवहार को छिपा सकता है, कृत्रिम बना सकता है, परन्तु यात्रा में ऐसा सहज नहीं होता । मनुष्य में जो भी स्वार्थपरता, विवेकहीनता, क्रूरता और असहिष्णुता रहती है वह ऐसी यात्रा में पग-पग पर प्रगट होती चलती है । कुली को पैसे देते समय, उसके विश्राम-भोजन का समय निश्चित करते हुए, साथियों के मुख-दुःख की चिन्ता और सहायता के अवसर पर, मनुष्य अपने अन्तरतम का ऐसा आभास दे देता है जिससे उसके चरित्र की अच्छी व्याख्या हो सकती है ।

एक ओर श्वेत शतदल की पंखड़ियों की तरह कुछ खुली कुछ बन्द, कहीं स्पष्ट कहीं अलक्ष्य पर्वत-श्रेणियों और दूसरी ओर कहीं हरितदल-से फँले खेत, और कहीं गली चाँदी जैसे स्रोतों के बीच में जो जीवन गति-शील है उसे देख कर प्रसन्नता से अधिक करुणा आती है ।

डाँड़ी में बैठा हुआ कोई लम्बोदर अगने हाँफते हुए कुलियों को सर्प-सर्प' कह कर इस तरह दौड़ाता है कि उसे देखकर हमें, स्वर्ग पर अधिकार पाकर भी देवता न बन पाने वाले, नहुष का स्मरण हो आता है । किसी डाँड़ी में कोई सम्पन्न घर की श्रृंगारित-प्रसाधित महिला पर्वत के सौन्दर्य की उपेक्षा कर भूपकियाँ लेती जाती है । किसी में घुटे सिर और सूखी लकड़ी से शरीर वाली कोई वृद्धा, कटुतिक्त अनुपान से उत्पन्न मुद्रा धारण किये और राह में आँख गड़ाए हुए हिलती-डुलती चली जाती है । कहीं कोई धनहीन प्रौढ़ भ्रष्टान में बैठ कर दोनों पाँव लटकाये हुए याचना-भाव से आकाश की ओर ताकता है, कहीं कोई छोटे ट्यूब पर विराजमान वीर, घोड़े वाले को पूँछ पकड़ कर चलने के लिए मना कर रहा है, क्योंकि इस व्यायाम से वह समीत हो जाता है । कहीं डाँड़ी में मृगचर्म बिछा कर बैठे हुए मठाधीश, शंख-झालर लेकर पैदल चलने वाले शिष्यों को देख-देख कर सदेह स्वर्गारोहण का सुख अनुभव कर रहे हैं ।

इस डाँडी, भ्रूपान, टट्टू आदि से भरे पूरे दल के अतिरिक्त एक दूसरा दल भी है जिसमें दरिद्रों का ही बाहुल्य है। प्रायः रुपयों के अभाव में इनमें से अधिकांश बिना टिकट ही रेलयात्रा समाप्त कर आने में निपुण होते हैं। फिर पाँच रुपये से लेकर पाँच आने तक अंटी में रख कर और गठरी में सत्तू-चबेना-गुड़ का पाथेय लेकर चलते हैं। जीवित लौटने के साधनों के अभाव में इनकी यात्रा सत्र से अन्तिम विदा के उपरान्त ही आरम्भ होती है। राह में जहाँ बीमार हुए, साथी छोड़ कर आगे बढ़ गए। दो-चार दिन वहाँ ठहरने से सबका पाथेय और रुपया-धेनी चुक जाने का डर रहता है और उस दशा में किसी का भी लक्ष्य तक पहुँचना असम्भव हो सकता है। इन्हीं से वे सब घर से ही ऐसा समझौता करके चलते हैं, क्योंकि एक का न पहुँचना तो उसके व्यक्तिगत पाप का परिणाम है, पर यदि उसके कारण अन्य भी न पहुँच सकें तो दूसरों को न पहुँचने देने का पाप भी उसके सिर रहेगा।

चट्टी-चट्टी पर इनमें से दो एक बीमार पड़ते रहते हैं और कहीं-कहीं मर भी जाते हैं। अन्त्येष्टि का काम यात्रियों से माँग-जाँच कर सम्पन्न किया जाता है। साधन न मिलने पर गहरा खड्ड तो स्वाभाविक समाधि है ही।

पैदल चलने वालों में कभी-कभी भ्रमणप्रिय टूरिस्ट भी आते-जाते मिल जाते हैं। वे यात्रियों के अस्त्रशस्त्र से लैस तो होते ही हैं, उनका पैदल चलना भी मनोविनोद के लिए ही रहता है, क्योंकि अधिकांश के साथ टट्टू रहते हैं, जिन्हें यात्रियों के सुविधानुसार कभी आगे कभी पीछे चलना पड़ता है। दरिद्र पैदल चलनेवालों से न डाँड़ीवाले बोलते हैं न ये फैशनेबिल यात्री।

डाँड़ियों के काफ़िले में भी मृत्यु अपरिचित नहीं, पर वह कुलियों तक ही सीमित रहती है। कभी किसी कुली को हैजा हो गया, किसी को बुखार आ गया, किसी के गहरी चोट आ गई। बस तुरन्त दूसरा कुली ठीक कर लिया जाता है और यात्रा अविराम चलती रहती है। बीमार कुली भाग्य पर छोड़ दिया जाता है। जीवित रहा तो जहाँ से चले थे, वहीं लौट कर दूसरा यात्री खोज लेता है, मर गया तो फेंक देने की सुविधा का अभाव

नहीं। डाँड़ियों के साथ सामान ढोने वाले कुली भी रहते हैं, पर उन्हें भी डाँड़ियों के साथ ही दौड़ना पड़ता है।

इन यात्रियों की स्थिति बहुत कुछ ऐसी रहती है जैसे हमारे यहाँ इक्केवाले की। वह बारह रुपये का टट्टू खरीद लाता है और उसे रात-दिन इस तरह दौड़ाता है कि कम से कम समय में छतीस वसूल हो जायें। थके टूटे टट्टू के मर जाने पर वह बारह में नया खरीदने के उपरांत भी लाभ में ही रहता है।

यात्री भी एक रुपया प्रतिदिन देकर कुली को खरीदता है, इसलिए लाभ की दृष्टि से तीन दिन का रास्ता एक दिन में तय करने की इच्छा स्वाभाविक है; अन्यथा वह घाटे में रहेगा।

यात्री तो बैठा-बैठा ऊँघता रहता है; पकवान, सूखे मेवे आदि उसके साथ होते हैं, अतः अधिक थकावट या अधिक भूख का प्रश्न ही नहीं उठता; पर वह कुलियों के विश्राम और भोजन के समय को घटाता रहता है। सबेरे ही कह देता है कि बीस मील रास्ता तय करना होगा। चाहे जिस तरह चलो पर शाम तक इतना न चलने पर मजदूरी काट ली जायगी। और वे बेचारे मनुष्य-पशु हाँफ-हाँफ कर मुँह से फिचकुर निकालते हुए दौड़ते हैं।

आश्चर्य तो यह है कि सबल वे ही हैं। यदि उनमें से एक भी भृकुटियाँ टेढ़ी कर अपने सवार की ओर देख कर साभिप्राय इस सैकड़ों फ्रीट गहरे खड्ड की ओर देखने लगे तो सवार बेहोश हो जायगा। पर उन्हें क्रोध आवे तो कैसे!

इसी स्वर्ग के हृदय में बसी मृत्यु और पवित्रता के भीतर छिपी व्याधि में से हमें भी मार्ग बनाना पड़ा। मैं तो डाँड़ी में बैठती नहीं, दूसरे भी पैदल ही चले। मनुष्य के भाव के समान संप्रेषणीय और कुछ नहीं है; इसी से हमारे कुली स्नेहशील साथी बन सके और आज उनकी स्मृति को मैं उस तीर्थ का पुण्यफल ही मानती हूँ। उन दोनों के पास दो टाट के टुकड़े और एक फटी काली कमली थी जिसे चौड़ाई की ओर से ओढ़ना कठिन था और लम्बाई की ओर से ओढ़ने पर यदि पैर ढक जाते थे तो सिर का बाहर

रहना अनिवार्य था और सिर ढक लेने पर पैरों का बहिष्कार स्वाभाविक हो जाता था।

मलिन बिना धुले कपड़ों में भी उन दोनों भाइयों का स्वच्छता विषयक ज्ञान खो नहीं गया था। चट्टी में सबसे दूर अंधेरे कोने को खोज कर वे कड़कड़ाते जाड़े में कपड़े दूर रख कौपीन-धारी बाबाजी के वेश में भात बनाते खाते थे। स्वच्छ कपड़ों के अभाव में आचार की समस्या का यह समाधान निमोनिया को निमंत्रण है, यह मैं प्रयत्न करके भी उन्हें समझा न सकी।

बर्तन के नाम से प्रत्येक के पास एक-एक लोहे का तसला था जिसमें से एक में दाल बन जाती थी, दूसरे में भात। कभी-कभी दाल का खर्च बचाने के लिए वे भरनों के किनारे खोज कर लिंगूणा नाम का जंगली शाक तोड़ लाते और उमी के साथ स्वाद ले लेकर कच्ची-पक्की मोटी रोटियाँ खाने थे। मार्ग में आलू के अतिरिक्त कोई हरी तरकारी मिलती नहीं, पर इसे जंगलियों के खाने योग्य विषैली घास समझ कर कोई खाने पर राजी नहीं होता था।

एक बार हठपूर्वक शाक का आतिथ्य स्वीकार कर लेने पर उसमें मेरा भी हिस्सा रहने लगा—और फिर तो उसे हमारे व्यंजनों में महत्वपूर्ण स्थान मिल गया।

मार्ग में हम सब उनके पीछे चलते थे, अतः शेष शरीर बोझ की ओट में होने के कारण केवल उनके पैर ही मेरे निरीक्षण की सीमा में रहते थे। धनसिंह की पलकें चाहे संकोच से न उठती हों पर उसके पैर भाई के साथ दृढ़ता से उठते थे। जब कभी चढ़ाई पर उनके पंजों का भार एड़ियों पर पड़ने लगता और आगे रखा हुआ पैर पीछे खिसकता जान पड़ता, तब मैं बिना उनका मुख देखे ही थकावट का अनुमान लगा लेती थी। परन्तु 'जंगबहादुर थक गए हो?'—पूछते ही विचित्र भाषा में वही परिचित उत्तर मिलता—'आस्ता है माँ! कुछ तकलीस नहीं।' अच्छा और तकलीफ़ के अपभ्रंश रूपों पर यदि हँसी नहीं आती थी तो उसके स्वर की गम्भीरता के कारण।

जीवन में बहुत छोटी अवस्था से ही मैं माँ का सम्बोधन और उसके उपयुक्त ममता का उपहार पाती रही हूँ, परन्तु उन पर्वत-पुत्रों के माँ सम्बोधन में जो कोमल स्पर्श और ममता की सहज स्वीकृति रहती थी, वह अन्यत्र दुर्लभ रही है।

धनिया तो संकोच के कारण सिर नहीं उठा पाता था, पर जंगिया राह में कई बार घूम-घूम कर हमारी आवश्यकताओं और थकावट का पता लेता रहता था। अन्त में एक दिन उसने अमूल्य वस्तु माँग बैठने वाले याचक की मुद्रा से कहा—‘माँ, आप आगे चलता तो अस्सा होता ! हम पीछू देखता है, फिर देखता है, बोझा से गरदन नहीं घूमता। आगे रहेगा तो हम सिर ऊँचा करके देख लेगा—वह गया माँ, वह जाता है—और हमारा पाँव जल्दी उठेगा।’ तब से हम लोग आगे रहने लगे।

आदि-बन्दी पहुँच कर धनसिंह चट्टी के एक कोने में जाकर लेट गया और उसे जोर से बुखार चढ़ आया। मैंने अपने होमियौपैथिक दवाओं के बक्सा से कोई दवा खोज कर ‘निरस्तपादपे देश एरण्डोऽपि द्रुमायते’ की कढ़ावत चरितार्थ की। जंगबहादुर को बैठे देख जब मैंने उसे बीमार के पैर दवाने का आदेश दिया तब परिचित संकोच के साथ उत्तर मिला—‘मैं बड़ा है माँ !’—इस शिष्टाचार की बात सुनकर मेरा विस्मित होना स्वाभाविक था। यहाँ तो एक सम्भ्रान्त परिवार की वृद्धा माता ने बताया था कि उसका लड़का जब तब उस पर हाथ चला बैठता है और मातृत्व की दोहाई देने पर उत्तर मिलता है—‘वह ज़माना गया जब तुम सब पैर पुजाती थीं—पैदा किया तो किया ! क्या इसी कारण हम तुम पर चन्दन-चावल चढ़ाते-चढ़ाते जन्म बिता दें ?’ जब जन्मदात्री के सम्बन्ध में मनुष्य इतना शिष्ट हो उठा है, तब सहोदरता-विषयक शिष्टता की चर्चा करना व्यर्थ होगा। पर जंगबहादुर का अनुज इतना प्रगतिशील नहीं हो पाया, अतः बड़े भाई से पैर दबवाना उसे शिष्टाचार के विरुद्ध जान पड़े तो आश्चर्य नहीं।

कुली के बीमार पड़ जाने पर यात्री ठहरते नहीं—चट्टी से या निकट के गाँव से दूसरा कुली बुलाकर तुरन्त ही आगे बढ़ जाते हैं। इस नियम

के कारण उन दोनों भाइयों के सरल सहज स्नेह का जो परिचय अनायास मिल गया, वह अन्य परिस्थितियों में सुलभ न हो पाता। जंगबहादुर जानता था कि छोटे भाई की जगह दूसरा कुली ले लेगा। पर वह उसे छोड़ कर चला जावे तो उसकी माँ को क्या उत्तर देगा ! धनिया न बीमारी की दशा में लौट सकता था, न चट्टी में अकेले पड़े-पड़े अच्छा हो सकता था। कुछ दिन ठहर जाने पर रुपया समाप्त हो जाना निश्चित था, पर दूसरा बोझ मिलना अनिश्चित। ऐसी स्थिति में उसे छोड़ कर बड़ा भाई कर्तव्यच्युत हुए बिना नहीं रह सकता। अतः उसने निश्चय कर लिया कि वह सबेरे दो नये कुली बुला लावेगा और स्वयं धनिया की देखभाल के लिए रुक जायगा।

धनिया ने भाई के मुख से उसका निश्चय न सुनने पर भी सब कुछ जान लिया था। उसे विश्वास था कि उसका भाई उसे छोड़ न सकेगा, अतः उसकी भी मजदूरी चली जायगी। जो थोड़े बहुत रुपये मिलेंगे वे भी बीमारी में खर्च हो जाँयगे, तब दूसरे बोझ की प्रतीक्षा करना भी कठिन होगा और लौटना भी। उसने निश्चय किया कि वह जैसे भी बनेगा उठकर बोझ लेकर चलेगा।

सबेरे भरने से हाथ-मुँह धोकर लौटने पर मैंने चट्टी के नीचे वाले खण्ड में जंगबहादुर को दो नये कुलियों के साथ प्रतीक्षा करते पाया और ऊपर धनसिंह को कपड़े की पट्टी से सिर कस कर बोझा सँभालते देखा। 'क्या तुम अच्छे हो गए ?'—सुनकर उसने थकावट से उत्पन्न पसीने की बूँदें पोंछते हुए बताया कि वह चल सकेगा। उसके न जाने से भाई का भी नुकसान होगा।

उन दोनों चचेरे भाइयों के स्नेह भाव ने कुछ क्षण के लिए मुझे मूक कर दिया। मैं दो-तीन दिन वहाँ ठहर कर उन्हीं के साथ यात्रा आरम्भ करूँगी, यह सुनकर उनके मुखों पर विस्मय का भाव उदय हो आया। उसे देख कर ग्लानि भी हुई और खिन्नता भी। मनुष्य ने मनुष्य के प्रति अपने दुर्व्यवहार को इतना स्वाभाविक बना लिया है कि उसका अभाव विस्मय उत्पन्न करता है और उपस्थिति साधारण लगती है।

धनसिंह तीसरे दिन अच्छा हो गया और चौथे दिन हम फिर चले ।

उन दोनों के पारस्परिक व्यवहार, सौहार्द आदि ने मेरे मनमें उनके प्रति जो ममतामय आदर का भाव उत्पन्न कर दिया था वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया । मेरी कुछ किताबें, दवा का बक्स, बर्तन आदि वस्तुएँ भारी थीं, अतः उन दोनों में से प्रत्येक उन्हें अपने बोझ में बाँधकर दूसरे का भार हल्का कर देना चाहता था ।

सबरे एक दूसरे से पहले उठने का प्रयत्न करता था जिससे सब भारी चीजें अपने बोझ में बाँधने का अवसर पा सके । एक बताशा देने पर भी एक भाई दूसरे की खोज में दौड़ पड़ता था । कोई देखने योग्य वस्तु सामने आते ही एक दूसरे को पुकारने लगता था । वे दोनों ऐसे दो बालकों के समान थे जिन्हें किसी ने जादू की छड़ी से छूकर इतना बड़ा कर दिया हो ।

मार्ग के अन्य कुलियों के प्रति भी उनके व्यवहार में संवेदनशीलता और सहानुभूति ही रहती थी । एक बार पहाड़ से उतरती हुई गाय इतने वेग से मार्ग तक फिसलती चली आई कि उसके खुर की चोट से एक कुली का पाँव घायल हो गया । धनसिंह को सामान सौंपने के उपरान्त जंगबहादुर उस लोहलुहान पैर वाले कुली को पीठ पर लादकर भरने तक ले गया और हमारे मरहम-पट्टी कर चुकने पर उसे डेढ़ मील दूर अगली चट्टी तक पहुँचा आया । इतना ही नहीं, उसे अपना और उसका बोझ भी लाना पड़ा और अँधरे में ठिठुरते हुए, अपने फटे कपड़ों में लगे रक्त के दाग भी साफ़ करना पड़ा । पर प्रश्न करनेवाला उससे एक ही उत्तर पा सकता था, 'कुछ तकलीस नहीं, अस्सा है' ।

धनसिंह संकोची होने के कारण बातचीत कम करता था पर जंगबहादुर जब-तब बैठकर अपने माता, पिता, गाँव, घर आदि की कहीं सुखद कहीं दुखद कथा कहता रहता ।

वह नेपाल के छोटे ग्राम में रहने वाले माता-पिता का अन्तिम पुत्र है । जीविका का अन्य साधन न होने के कारण वह बचपन से ही अन्य कुली साथियों के साथ इस ओर आने लगा । गर्मियों के आरम्भ में वे आते और

शरद के आरम्भ में लौट जाते हैं। किसी को मजदूरी के सिलसिले में कैलाश, किसी को पिण्डारी और किसी को बदरी-केशर को यात्रा करनी पड़ती है। ठेकेदार के पास सब के नाम और नम्बर रहते हैं। यदि कोई कुली लोट कर नहीं आता और समाचार भी नहीं मिलता तो वह मरा समझ लिया जाता है। इसी प्रकार जब कोई सीजन के अन्त में घर नहीं लौटता और न साथियों के द्वारा कोई समाचार भेजता है, तब घर वाले भी उसे महायात्रा का यात्री मानकर क्रिया-कर्म द्वारा उसका पथ सुगम बनाने का प्रयत्न करते हैं।

जंगबहादुर अनेक बार आपत्तियों में पड़ चुका है, क्योंकि वह अधिक कमाने की इच्छा से दूर-दूर की यात्राएँ ही नहीं करता, एक सीजन में कई कई यात्राएँ कर डालता है। उसके अनिश्चित जीवन के कारण ही विवाह-योग्य कन्याओं के पिता उसे जामाता होने के उपयुक्त नहीं मानते थे। परन्तु दो वर्ष पहले उसे अविवाहित रहने के शाप से मुक्ति मिल चुकी है। वयस्क बधू के माता-पिता थे ही नहीं। सम्बन्धियों ने सोचा—चाहे वर किसी पर्वत शिखर पर हिम-समाधि ले ले, चाहे धनकुबेर बन कर लौटे, कन्या रहेगी तो समुराल में, अतः बेचारे अभिभावक तो कर्तव्यमुक्त हो सकेंगे।

पिछले वर्ष जंगबहादुर मजदूरी के लिए आया ही नहीं था, इस वर्ष खेत में कुछ हुआ नहीं और पत्नी ने पुत्ररत्न उपहार दे डाला। अब तो कुछ न कुछ कमाने का प्रश्न उग्र हो उठा। जब वह घर से चला तब उसका पुत्र दो मास का हो चुका था पर वह इतना दुर्बल और छोटा था कि पिता उसे गोद में लेने का भी साहस नहीं कर सका। अब वह खाने-पीने से बची हुई मजदूरी घर ले जाने के लिए जमा कर रहा है और जो कुछ इनाम में मिल जाता है, उससे पुत्र के लिए एक टोपा और कुरता बनाने की इच्छा रखता है। युवती पत्नी ने बार-बार आँखें पोंछते-पोंछते, फटा आँचल फैला-फैलाकर बिनती की थी कि भले आदमी के साथ जाना और बोझ लेकर एक बार से अधिक मत चढ़ाई करना। पिता ने पीठ पर हाथ रखकर और आकाश की ओर धुंधली आँखें उठाकर मानो उसे परमात्मा को सौंप दिया था। और माँ तो गाँव की सीमा के बाहर तक

रोती-रोती चली आई थी। बड़ी कठिनाई से अनेक आश्वासन देने पर भी वह लौटी नहीं, वरन् वहीं एक जरा-जीर्ण पेड़ का सहारा लेकर दृष्टि-पथ से बाहर जाते हुए पुत्र को आँसुओं के तार से बाँध लेने का निष्फल प्रयत्न करती रही। विदा का यह क्रम तो सनातन था, पर इस वर्ष उस अनुष्ठान में भाग लेने के लिए विकल पत्नी और मौन पुत्र और बढ़ गए थे। जंगबहादुर को परम समर्थ जानकर उसकी विधवा काकी ने भी अपना पुत्र उसे सौंप दिया था, इसीसे अब वह ऐसे ही यात्रो की खोज में रहता है जो उन दोनों को साथ ले चले।

बदरीनाथ की ओर मेरी यह दूसरी यात्रा थी, इसीसे मैंने कम से कम समय में, प्रशान्त अलकनन्दा के तट पर बसी उस अलकापुरी में पहुँच जाने के लिए केदार का पथ छोड़ देना ठीक समझा। पर जब वहाँ से लौटकर रुद्रप्रयाग पहुँचे जो उत्ताल तरंगों में ताण्डव करती हुई अलकनन्दा के किनारे, तूफान में क्षण भर ठहरे हुए फूल का स्मरण दिलाता था, तब केदार न जाने का पश्चात्ताप गहरा हो गया।

जिन्होंने पाँच जल की धाराओं से घिरा और रंग-विरंगे फूलों में छिपे चरणों से लेकर शून्य नीलिमा में प्रकट मस्तक तक सफेद हिम में समाधिस्थ केदार का पर्वत देखा है वे ही उसका आकर्षण जान सकते हैं। मीलों दूर से ही वह उज्ज्वल शिखर अक्षरहीन आमंत्रण के समान खुला दिखाई देता है। जैसे-जैसे हम उसकी ओर बढ़ते हैं वह विस्तार में बढ़ता जाता है और उसकी रजत-विद्युत-लेखाओं के समान झिलमिलाती हुई रेखाएँ स्पष्टतर होती जाती हैं। लौटते समय जिस क्षण वह हमारी दृष्टि से ओझल हो जाता है उस समय हम एक विचित्र अकेलेपन का अनुभव करते हैं।

रुद्रप्रयाग पहुँचकर कुछ साथी इतने थक गए थे कि इतनी लम्बी चढ़ाई के लिए साहस न बाँध सके। वास्तव में बदरीनाथ के पर्वत-शिखर से केदार का शिखर केवल ढाई कोस के अन्तर पर स्थित है पर वहाँ तक पहुँचने में नौ दिन का समय लगता है। 'नौ दिन चले अढ़ाई कोस' की कहावत के मूल में सम्भवतः यही सत्य है।

जब मैंने वहाँ जाने का निश्चय कर लिया तब विशेष थके साथी रुद्र-प्रयाग में हमारी प्रतीक्षा और विश्राम करके 'एक पंथ दो काज' को चरितार्थ करने के लिए प्रस्तुत हो गए। जाने वालों के सामान के लिए एक कुली पर्याप्त था, अतः दूसरे कुली की समस्या का समाधान आवश्यक हो उठा। मेरी व्यक्तिगत इच्छा थी कि दूसरा कुली भी यात्रियों के साथ विश्राम करे और अट्टारह दिन के उपरान्त हमारे लौटने पर साथ चले। पर जंगवहादुर माँ जी का अट्टारह रुपया मुफ्त कैसे ले ले ! उसने बहुत संकोच और वरदान-याचक की मुद्रा से जो कहा उसका आशय था कि वह माँ जी को जान गया है, अतः विश्वासपूर्वक धनसिंह को छोड़ कर जा सकता है। यहाँ से श्रीनगर पहुँचकर वह नये यात्री की खोज भी करेगा और भाई की प्रतीक्षा भी। सबके लौट आने पर वह धनिया के साथ दूसरी यात्रा करेगा।

जंगवीर के स्वार्थत्याग पर कोई काव्य चाहे न लिखा जावे, पर मेरे हृदय में उसकी स्मृति एक कोमल मधुर कविता है। जब मैंने जंगवीर को अपने साथ चलने का आदेश दिया और धनसिंह को रुद्रप्रयाग में विश्राम का, तब उसकी आँखें अधिक सजल हो आई या कण्ठ अधिक गद्गद् हो उठा—यह बताना कठिन है। उसने बहुत साहस से लौट जाने का प्रस्ताव किया था, पर हम सब का विछोह सहना उसके लिए कठिन था। कई दिन बाद उसने अपनी अटपटी भाषा में बताया था, 'हम हियाँ सरम से, अदब से नहीं रोया—फिर दूर जाकर जोर से रोया—सोचा माँ जी जाता है और हमारे भीतर कैसा-कैसा तो होने लगा।'।

वह यात्रा भी समाप्त हो गई और तब एक दिन हम सबको बस पर बैठा कर वे दोनों भाई खांये-से खड़े रह गए। जंगवीर ने आँसू रोकने का प्रयास करते-करते कहा 'माँ जी जोता रहना, फिर आना, जंगिया का नाम चीठी भेजना।' धनिया सदा के समान पृथ्वी पर दृष्टि गड़ाये, बीच-बीच में टपकते आँसुओं की भाषा में विदा दे रहा था। आज वे दोनों पर्वतपुत्र कहाँ होंगे सो तो मैं बता ही नहीं सकती, पर उनकी माँजी होकर मुझे जो सम्मान मिला, वह भी बताना सहज नहीं।

अभ्यास के प्रश्न

- १। जंगिया और धनिया के जीवन और चरित्र की एक भाँकी दिखाइए।
- २। 'महादेवीजी की दृष्टि ममता और करुणा की दृष्टि है, इसीलिये वे साधारण जीवन के भीतर छिपे हुए सुख-दुःख तथा गौरव को सहज ही पहचान लेती हैं।'—'दो पर्वतपुत्र' शीर्षक रचना के सहारे इस कथन का समर्थन कीजिए।
- ३। पहाड़ी कुलियों के जीवन की कष्ट-कथा का परिचय दीजिए।
- ४। निम्नलिखित शब्द किन मूल शब्दों के आधार पर बने हैं :—
चूटीली, पौराणिक, सौहार्द, गँठीली, सहोदर, आनायास, सहानुभूति।
- ५। निम्नलिखित उद्धरणों की सरल व्याख्या कीजिए :—
(क) जीवन में बहुत छोटी अवस्था से ही.....दुर्लभ रही है। (पृ०....१६६)
(ख) मनुष्य ने मनुष्य के प्रति.....लगती है। (पृ०....१६७)
(ग) जिन्होंने पाँच जल की धाराओं खुला दिखाई देता है। (पृ०....१७०)
(घ) जंगवीर के स्वार्थत्याग पर.....कविता है। (पृ०....१७१)

अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी

रतनलाल बंसल

उस दिन कानपुर में जैसे आग बरस रही थी।

‘अल्लाहो अकबर’, ‘हर हर महादेव’, ‘बजरंग बली की जय’ जैसे पवित्र नारों के साथ इन्सानियत का दामन चाक-चाक किया जा रहा था। घरों में औरतें सिसक रही थीं, बच्चे सहमे हुए थे और बीमार व बेबस लोग घबरा रहे थे।

आज हिन्दुओं को ‘हिन्दू धर्म’ की और मुसलमानों को अपने ‘इस्लाम’ की याद जो आगई थी।

राम और कृष्ण के अनुयायी आज दुश्मन बच्चों पर अपनी तलवारें आजमा रहे थे और हज़रत मुहम्मद के पैरो बीमार और बेबसों को जिन्दा जला कर ‘इस्लाम’ का नाम रोशन कर रहे थे। जो पाप और जुल्म आदमी अपनी खुदशरज़ी के लिये भी नहीं कर सकता, वह सब ‘धर्म’ और ‘दीन’ के नाम पर हो रहे थे। और जो यह नहीं करते थे या इनको करने से मना करते थे, वे अपनी क़ौम के शत्रु थे, कायर थे, उनको अपने मज़हब का ख़्याल ही नहीं था !

गुण्डों की बन आई थी, क्योंकि आज वह अपनी क़ौम के हीरो थे। पुलिस भी खुश थी।

जनता दौड़-दौड़ कर पुलिस के पास पहुँचती थी। कानपुर के लोगों ने बलवे की जाँच कमेटी के सामने यह बयान दिये थे कि जब बाज़ार में बलवाई दुकानों के ताले तोड़ते थे, तब पहरा देने पर तैनात हथियार-बन्द पुलिस के सिपाही मजरे में बैठे-बैठे ताश खेलते रहते थे। घरों से बच्चों की, औरतों की चीखें आती रहती थीं और अंग्रेज़ सार्जेंट बाहर खड़ा-खड़ा किसी अंग्रेज़ी गाने की लय पर मुँह से सीटी बजाता रहता था। कलकटर

के पास फोन किया जाता था कि बलवाइयों ने हमको घेर लिया है, पुलिस भेजो, और अंग्रेज कलक्टर दहशत से काँपती हुई उस पुकार के जवाब में हँसता हुआ कहता था कि 'इस वक्त गान्धी को याद करो; वही तुम्हारी मदद करेगा।'

इस तरह विदेशी अफसर उस दिन हमारे देश का, हमारी आजादी की लड़ाई का, हमारे सबसे बड़े नेता का अपमान कर रहे थे और जनता बेबस थी।

पर इस अँधेरे में उस वक्त एक बिजली सी कौंधी और उसकी रोशनी ने जैसे एक रास्ता सा दिखा दिया। जनता ने, मजलूमों ने और जुल्म करनेवालों ने भी देखा कि एक दुबला-पतला-सा आदमी, नंगे सिर, नंगे पैर, उस जलती आग में पागलों की तरह दौड़ता फिरता है। उसके हाथ में एक छड़ी भी नहीं है, लेकिन वह हत्यारों की भीड़ में बेधड़क घुस जाता है। यह देखो, वह एक मकान के सामने खड़ा हुआ है। ऊपर छत से औरतें, बच्चे और आदमी घबराई और डरी हुई नज़रों से उसकी तरफ और उस भीड़ की तरफ, जो उनके मकान में आग लगाने को तुली हुई है, देख रहे हैं। मकान हिन्दू का है, भीड़ मुसलमानों की है। मुसलमान कह रहे हैं कि फ़लाँ मुहल्ले में हिन्दुओं ने मुसलमानों के इतने मकान जला डाले हैं और जब तक हम इससे दुगुने मकान हिन्दुओं के नहीं जला डालेंगे, तब तक चैन नहीं लेंगे। थोड़ी ही दूर पर पुलिस के पाँच जवान बन्दूकें लिये हुए चुपचाप खड़े हैं। उनको गोली चलाने का हुक्म ही नहीं है, इसलिये वे क्या करें? हिन्दू मुहल्लों में आज जो लोग मुसलमानों को मारने-जलाने की तैयारियाँ कर रहे हैं, वे ऐसी खतरनाक जगहों पर भाँकना भी पसन्द नहीं करते। वे तो चारों तरफ से घिरे हुए बेबस मुसलमानों की 'सफ़ाई' करने में लगे हुए हैं, लेकिन यह दुबला पतला आदमी ऐसी जगह ही पहुँचता है। मिट्टी के तेल का कनस्तर उसने एक बलवाई के हाथों से छीन लिया है और वह भीड़ से कह रहा है—“भिरे प्यारे भाइयो! ख़रा सोचो तो कि तुम किस मज़हब के मानने वाले हो। क्या 'इस्लाम'

यही कहना है ? क्या कुरान की यही तालीम है ? क्या तुम्हारे पैगम्बर हजरत मुहम्मद ने ऐसे लोगों के साथ भी दया और मेहरबानी का बरताव नहीं किया, जो उनको क़त्ल करने पर तुले हुए थे ?”

भीड़ में से कुछ लोगों पर इसका असर होता है। लेकिन तभी एक जोगीला नौजवान आगे बढ़ कर कहता है—“जरा अपने हिन्दुओं की हरकतों पर भी तो गौर करो। पहिले उनको समझाओ, फिर यहाँ आना। अब हट जाओ, वरना.....”

“वरना क्या ? मुझे मार ही तो डालोगे। तो लो, मेरा सिर झुका हुआ है। लेकिन अपने जीते जी मैं तुमको इस्लाम के नाम पर दाग नहीं लगाने दूंगा। मैं हिन्दुओं से क्या कहता हूँ, यह जाकर उस मुहल्ले के मुसलमानों से पूछो। वे तुमको बतलायेंगे कि वहाँ से उनको किसने निकाला है। मुझे हिन्दू-मुसलमान से क्या मतलब ? जो बेगुनाहों का खून कर रहे हैं क्या वे भी हिन्दू या मुसलमान हैं ?”

भीड़ खामोश है। ऊपर से सहमे हुए वच्चे और औरतें देख रहे हैं। उनके दिल धड़क रहे हैं। यह कौन है, जिसने उनको मौत के मुँह से उबार लिया है ?

“तो अब आप क्या सोच रहे हैं ? आप साफ़-साफ़ बतलाइये कि आपका इरादा क्या है ?” उसने फिर भीड़ से कहा।

भीड़ से कुछ आदमी आगे बढ़ते हैं और मुलायम आवाज़ में कहते हैं—“आप यक़ीन रखिये, यहाँ अब कोई गड़बड़ नहीं होगी। लेकिन आप हिन्दुओं को भी समझाइये।”

“मैं हिन्दुओं से भी इसी तरह कहता हूँ। वे जो कुछ कर रहे हैं, उसके लिये मुझे शर्मिन्दगी है। आप मेरे सिर पर हाथ रखकर मुझे भरोसा दीजिये कि यहाँ के हिन्दुओं की पूरी तरह हिफ़ाज़त होगी।”

“इसका इतमीनान हम कैसे दिलायें ? गुन्डों पर हमारा क्या बस है ? हाँ, आप हिन्दुओं को यहाँ से अभी निकाल ले जायँ, तो हम अपनी हिफ़ाज़त में उनको हिन्दू मुहल्लों में पहुँचा देंगे।”

अब इस मुहल्ले से हिन्दू निकाले जा रहे हैं। वह आदमी चार-चार बच्चों को गोद में लिये घिरे हुए हिन्दुओं को हिफाजत की जगह ले जा रहा है। जो भीड़ आग लगाने पर तुली हुई थी, वही उन हिन्दुओं को हिफाजत की जगह पहुँचा रही है। यह आदमी कौन है? यह है, गणेशशंकर विद्यार्थी। अब जरा उन्हीं के साथ हिन्दू मुहल्ले की तरफ़ आइए।

यह हिन्दू मुहल्ला है। सिर्फ़ एक मुसलमान खानदान यहाँ रहता है, इस वक्त उसी को हिन्दुओं ने चारों तरफ़ से घेर रक्खा है। मुहल्ले के बड़े-बूढ़ों ने मना किया, लेकिन उनकी सुनता ही कौन है? भला धर्म के मामले में भी बड़े-बूढ़ों की सुनी जाती है?

ऊपर छत से औरतें चीख रही हैं, लेकिन भीड़ हँस रही है। किवाड़ों पर कुल्हाड़े चल रहे हैं। और 'बजरंग बली की जय' के नारे लगा रहे हैं। उन बजरंग बली की जय के, जो मुसीबत में घिरी हुई सीता माता के लिये अकेले ही राक्षसों की नगरी में चले गये थे।

दरवाज़ा टूट चुका है। औरतें और बच्चे चीख रहे हैं। भीड़ घर में घुसना ही चाहती है कि विद्यार्थी जी यहाँ भी मौजूद हैं। वह दरवाज़ा रोक कर खड़े हो जाते हैं, "मेरे जीते जी तुम ऐसा नहीं कर सकते।"

"इन कांग्रेस वालों ने ही हिन्दू जाति का नाश किया है।"—एक नौजवान बड़बड़ाता है।

"विद्यार्थी जी! आप यहाँ तो मेहरबानी कीजिये। हम आपके उपदेशों की जरूरत नहीं है। हमारी माँ-बहनों की लाज लूटी जा रही है और आप यह उपदेश देते फिरते हैं। आपको शर्म नहीं आती?"

"शर्म तो मुझको तब आवेगी, जब आपको यह सब करने दूँ और खड़ा-खड़ा देखता रहूँ। माँ-बहनों की लाज का लूटना अगर आप बुरा समझते हैं, तो खुद यह काम क्यों कर रहे हैं?"

"मुसलमानों को भी यह समझाइये न।"

"उनको भी समझाता हूँ। अभी उन्हीं के मुहल्ले से चला आ रहा हूँ।

वहाँ से दो सौ हिन्दुओं को निकाल कर हिन्दू मुहल्लों में मँने अभी-अभी पहुँचाया है। यकीन न हो तो मेरे साथ चल कर देख लो।”

“यह बहस हमें नहीं चाहिए। अब आप यहाँ से हट जाइये। बड़े आए कांग्रेसी।” एक नौजवान ने आगे बढ़ कर विद्यार्थी जी को धक्का दिया, इस पर कुछ लोगों ने उस नौजवान को पीछे खींच लिया। उनमें कितना ही जोश हो, पर विद्यार्थी जी की बेइज्जती बर्दाश्त नहीं कर सकते थे।

कुछ ही देर में विद्यार्थी जी उस मुसलमान खानदान को एक मुसलमान मुहल्ले की तरफ लिए जा रहे थे। उन दिनों चौबीसों घंटे वह इसी काम में लगे रहते थे। इसमें हर एक कदम पर मौत से सामना होता था, लेकिन देश की इज्जत और बेगुनाहों की जानें उनको अपनी जान से ज्यादा प्यारी थीं।

सरकारी अफसरों ने, फूट-परस्तों ने और गुण्डों ने विद्यार्थी जी का यह काम देखा तो उनकी छाती पर साँप लोटने लगा। इसका मतलब तो यह हुआ कि ये कांग्रेसी लोग पुलिस और फ़ौज से भी ज्यादा ताकत रखते हैं। परदे के पीछे फिर कुछ खुस-फुस हुई और इस काँटे को भी हटाने का इन्तजाम कर लिया गया। जिसे देखकर हत्यारों के हाथ से तलवार गिर पड़ती थी, उसी की हत्या करने की साजिश अब उन लोगों ने की, जो अपने को पढ़ा लिखा और मुहज्जब कहते थे। लेकिन इस खूनी घटना को बताने से पहिले विद्यार्थी जी की ज़िन्दगी पर भी एक नज़र डाल लें, जिससे हम समझ सकें कि हमारे देश का कितना कीमती हीरा उस समय हमारी ही हैवानियत से मिट्टी में मिल गया। वैसे भी विद्यार्थी जी हमेशा उनकी आखों में खटकते रहते थे। पुलिस नाराज़ थी, क्योंकि उसकी रिश्त की कहानियाँ ‘प्रताप’ में रोज़ छपती थीं। सरकारी अफसर नाराज़ थे, क्योंकि उन्होंने ज़रा भी बेज़ाब्तगी की और ‘प्रताप’ ने उनके कान पकड़े। ज़मींदार और मिल-मालिक परेशान थे, क्योंकि विद्यार्थी जी ने गरीब किसानों और मजदूरों की हिमायत कर कर के उनको ‘शेर’ कर

दिया था। अब ज़मींदार किसान को पिटवाता था, तो किसान मुकाबला करता था और मजदूरों की तनख्वाह घटाई जाती थी, तो हड़ताल हों जाती थी। फिर क्यों न इस काँटे को हमेशा के लिये दूर कर दिया जाय ? उनको खबर दी गई कि फ़लाँ मुहल्ले में हिन्दुओं को मुसलमानों ने घेर रक्खा है। अपने कुछ मुसलमान साथियों को लेकर विद्यार्थी जी फ़ौरन उस मुहल्ले में पहुँचे। एक हिन्दू को देखते ही मुसलमानों की भीड़ उन पर भपटो, लेकिन विद्यार्थी जी के मुसलमान साथी बीच में आ गये और उन्होंने भीड़ को बताया कि यह तो गणेशशंकर विद्यार्थी हैं, जिन्होंने हज़ारों मुसलमानों को बचाया है। इस पर भीड़ फ़ौरन रुक गई लेकिन जो लोग इसी काम के लिए तैनात किये गये थे, उन्होंने कुछ आगे जाकर विद्यार्थी जी पर फिर हमला कर दिया। वे विद्यार्थी जी को खींच कर एक गली में लेजाने लगे। लेकिन विद्यार्थी जी ने शान्ति के साथ उन क्रांतियों से कहा—“क्यों घसीटते हो मुझे, मैं भाग कर जान नहीं बचाऊँगा। एक दिन मरना तो है ही। अगर मेरे मरने से तुम लोगों की खून की प्यास बुझती हो, तो लो यह सिर हाज़िर है।”

हमारा तमाम सूबा जिसकी रोशनी से जगमगा रहा था, अपने उस दीपक को हमने अपने ही हाथों बुझा दिया।

बापू जब भी कहीं बलवा होने की खबर पाते थे, तभी उनको विद्यार्थी जी की याद आती थी। वह अक्सर कहा करते थे कि मैं तो गणेशशंकर-जैसी मौत चाहता हूँ। और. भगवान् ने गान्धी जी को ऐसी ही मौत दी ! यह थी विद्यार्थी जी की शान कि जिस गुरु के चरणों पर उन्होंने सब कुछ न्योछावर कर रक्खा था, वह गुरु भी विद्यार्थी जैसी ही मौत चाहता था !

काश ! हम भी अपने इस देशभक्त की जिन्दगी और मौत से कुछ सीख पाते !

अभ्यास के प्रश्न

- १। गणेशशंकर विद्यार्थी को जिन परिस्थितियों में अपने प्राणों का दान देना पड़ा, उनका एक शब्द-चित्र खींचिए।
- २। विद्यार्थीजी का आत्मदान आज के युग में और किन महापुरुष के आत्मोत्सर्ग की याद दिलाता है? इन दोनों वीरों के प्राणदान का क्या महत्त्व है?
- ३। विद्यार्थी जी के व्यक्तित्व और चरित्र की एक झुंकी दिखाइए। उनकी जिंदगी और मौत हमें क्या सिखाते हैं?
- ४। इस लेख की भाषा-शैली को विशेषताएँ बताइए।
- ५। निम्नलिखित शब्दों और मुहावरों के अर्थ लिखिए :—
इत्सानियत, दामन, चाक-चाक, गद्दार, बलवाई, मज्रलूम, हिफाजत, साजिश, हैवानियत, छाती पर साँप लोटना, मिट्टी में मिलाना।

राष्ट्र का स्वरूप

वासुदेवशरण अग्रवाल

भूमि, भूमि पर बसने वाला जन, और जन की संस्कृति, इन तीनों के सम्मिलन से राष्ट्र का स्वरूप बनता है।

भूमि का निर्माण देवों ने किया है, वह अनन्त काल से है। उसके भौतिक रूप, सौन्दर्य और समृद्धि के प्रति सचेत होना हमारा आवश्यक कर्तव्य है। भूमि के पार्थिव स्वरूप के प्रति हम जितने अधिक जाग्रत होंगे उतनी ही हमारी राष्ट्रीयता बलवती हो सकेगी। यह पृथ्वी सच्चे अर्थों में समस्त राष्ट्रीय विचारधाराओं की जननी है। जो राष्ट्रीयता पृथ्वी के साथ नहीं जुड़ी वह निर्मूल होती है। राष्ट्रीयता की जड़ें पृथ्वी में जितनी गहरी होंगी उतना ही राष्ट्रीय-भावों का अंकुर पल्लवित होगा। इसलिए पृथ्वी के भौतिक स्वरूप की आद्योपांत जानकारी प्राप्त करना, उसकी सुन्दरता, उपयोगिता और महिमा को पहचानना आवश्यक धर्म है।

उदाहरण के लिए, पृथ्वी की उपजाऊ शक्ति को बढ़ाने वाले मेघ जो प्रति वर्ष समय पर आकर अपने अमृत जल से इसे सींचते हैं, हमारे अध्ययन की परिधि के अन्तर्गत आने चाहिए। उन मेघजलों से परिवर्धित प्रत्येक तृण-लता और वनस्पति का सूक्ष्म परिचय प्राप्त करना भी हमारा कर्तव्य है।

इस प्रकार जब चारों ओर से हमारे ज्ञान के कपाट खुलेंगे, तब सैकड़ों वर्षों से शून्य और अन्धकार से भरे हुए जीवन के क्षेत्रों में नया उजाला दिखाई देगा।

धरती माता की कोख में जो अमूल्य निधियाँ भरी हैं, जिनके कारण वह वसुन्धरा कहलाती है, उनसे कौन परिचित न होना चाहेगा? लाखों-करोड़ों वर्षों से अनेक प्रकार की धातुओं को पृथ्वी के गर्भ में पोषण मिला

है। दिन-रात बहने वाली नदियों ने पहाड़ों को पीस-पीस कर अगणित प्रकार की मिट्टियों से पृथ्वी की देह को सजाया है। हमारे भावी आर्थिक अभ्युदय के लिये इन सब की जाँच-पड़ताल अत्यन्त आवश्यक है। पृथ्वी की गोद में जन्म लेने वाले खड़े पत्थर कुशल शिल्पियों से सँवारे जाने पर अत्यन्त सौन्दर्य का प्रतीक बन जाते हैं। नाना भाँति के अनगढ़ नग विंध्य की नदियों के प्रवाह में सूर्य की धूप से चिलकते रहते हैं, उन चीलबटों को जब चतुर कारीगर पहलदार कटाव पर लाते हैं तब उनके प्रत्येक घाट से नई शोभा और सुन्दरता फूट पड़ती है, वे अनमोल हो जाते हैं। पृथ्वी और आकाश के अन्तराल में जो कुछ सामग्री भरी है, पृथ्वी के चारों ओर फैले हुए गम्भीर सागर में जो जलचर एवं रत्नों की राशियाँ हैं, उन सबके प्रति चेतना और स्वागत के नए भाव राष्ट्र में फैलने चाहिए। राष्ट्र के नवयुवकों के हृदय में उन सबके प्रति जिज्ञासा की नई किरणें जवतक नहीं फूटतीं तबतक हम सोए हुए के समान हैं।

विज्ञान और उद्यम दोनों को मिलाकर राष्ट्र के भौतिक स्वरूप का एक नया ठाट खड़ा करना है। यह कार्य प्रसन्नता, उत्साह और अथक परिश्रम के द्वारा नित्य आगे बढ़ाना चाहिए। हमारा यह ध्येय हो कि राष्ट्र में जितने हाथ हैं उनमें से कोई भी इस कार्य में भाग लिए बिना रीता न रहे।

मातृभूमि पर निवास करने वाले मनुष्य राष्ट्र के दूसरे अंग हैं। पृथ्वी हो और मनुष्य न हों, तो राष्ट्र की कल्पना असम्भव है। पृथ्वी और जन दोनों के सम्मिलन से ही राष्ट्र का स्वरूप सम्पादित होता है। जन के कारण ही पृथ्वी मातृभूमि की संज्ञा प्राप्त करती है। पृथ्वी माता है और जन सच्चे अर्थों में पृथ्वी का पुत्र है—माता भूमि: पुत्रोऽहं पृथिव्याः। 'भूमि माता है, मैं उसका पुत्र हूँ।' जन के हृदय में इस सूत्र का अनुभव ही राष्ट्रीयता की कुंजी है। इसी भावना से राष्ट्र-निर्माण के अंकुर उत्पन्न होते हैं।

यह भाव जब सशक्त रूप में जागता है तब राष्ट्र-निर्माण के स्वर वायुमण्डल में भरने लगते हैं। इस भाव के द्वारा ही मनुष्य पृथ्वी के साथ

अपने सच्चे सम्बन्ध को प्राप्त करते हैं। जहाँ यह भाव नहीं है वहाँ जन और भूमि का सम्बन्ध अचेतन और जड़ बना रहता है। जिस समय भी जन का हृदय भूमि के साथ माता और पुत्र के सम्बन्ध को पहिचानता है उसी क्षण आनन्द और श्रद्धा से भरा हुआ उसका प्रणाम-भाव मातृभूमि के लिये प्रकट होता है। यह प्रणाम-भाव ही भूमि और जन का दृढ़ बन्धन है। इसी दृढ़ भित्ति पर राष्ट्र का भवन तैयार किया जाता है। इसी दृढ़ चट्टान पर राष्ट्र का चिर जीवन आश्रित रहता है। इसी मर्यादा को मानकर राष्ट्र के प्रति मनुष्यों के कर्तव्य और अधिकारों का उदय होता है। जो जन पृथ्वी के साथ माता और पुत्र के सम्बन्ध को स्वीकार करता है, उसे ही पृथ्वी के वरदानों में भाग पाने का अधिकार है। माता के प्रति अनुराग और सेवा-भाव पुत्र का स्वाभाविक कर्तव्य है। वह एक निष्कारण धर्म है। स्वार्थ के लिए पुत्र का माता के प्रति प्रेम, पुत्र के अधःपतन को सूचित करता है। जो जन मातृभूमि के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ना चाहता है उसे अपने कर्तव्यों के प्रति पहले ध्यान देना चाहिए।

माता अपने सब पुत्रों को समान भाव से चाहती है। इसी प्रकार पृथ्वी पर बसने वाले जन बराबर हैं। उनमें ऊँच और नीच का भाव नहीं है। जो मातृभूमि के हृदय के साथ जुड़ा हुआ है वह समान अधिकार का भागी है। पृथ्वी पर निवास करने वाले जनों का विस्तार अनंत है—नगर और जनपद, पुर और गाँव, जंगल और पर्वत नाना प्रकार के जनों से भरे हुए हैं। ये जन अनेक प्रकार की भाषाएँ बोलने वाले और अनेक धर्मों के मानने वाले हैं, फिर भी वे मातृभूमि के पुत्र हैं और इस कारण उनका सौहार्द भाव अखंड है। सभ्यता और रहन-सहन की दृष्टि से जन एक-दूसरे से आगे-पीछे हो सकते हैं, किन्तु इस कारण से मातृभूमि के साथ उनका जो सम्बन्ध है, उसमें कोई भेद-भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। पृथ्वी के विशाल प्रांगण में सब जातियों के लिये समान क्षेत्र है। इतिहास के अनेक उतार-चढ़ाव पार करने के बाद भी राष्ट्र-निवासी जन नई उठती लहरों से आगे बढ़ने के लिये आज भी अजर-अमर हैं। जन का संततवाही

जीवन, नदी के प्रवाह की तरह है जिसमें कर्म और श्रम के द्वारा उत्थान के अनेक घाटों का निर्माण करना होता है।

राष्ट्र का तीसरा अंग जन की संस्कृति है। मनुष्यों ने युग-युगों में जिस सभ्यता का निर्माण किया है वही उसके जीवन की श्वास-प्रश्वास है। बिना संस्कृति के जन की कल्पना कबन्धमात्र है, संस्कृति ही जन का मस्तिष्क है। संस्कृति के विकास और अभ्युदय के द्वारा ही राष्ट्र की वृद्धि सम्भव है। राष्ट्र के समग्र रूप में भूमि और जन के साथ-साथ जन की संस्कृति का महत्वपूर्ण स्थान है। यदि भूमि और जन अपनी संस्कृति से विरहित कर दिए जाएँ तो राष्ट्र का लोप समझना चाहिए। जीवन के विटप का पुष्प संस्कृति है। भूमि पर बसने वाले जन ने ज्ञान के क्षेत्र में जो सोचा है और कर्म के क्षेत्र में जो रचा है, दोनों के रूप में हमें राष्ट्रीय संस्कृति के दर्शन मिलते हैं।

जंगल में जिस प्रकार अनेक लता, वृक्ष और वनस्पति अपने अदम्य भाव से उठते हुए पारस्परिक सम्मिलन से अविरोधी स्थिति प्राप्त करने हैं, उसी प्रकार राष्ट्रीय जन अपनी संस्कृतियों के द्वारा एक-दूसरे के साथ मिलकर राष्ट्र में रहते हैं। जिस प्रकार जलों के अनेक प्रवाह नदियों के रूप में मिलकर समुद्र में एकरूपता प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार राष्ट्रीय जीवन की अनेक विधियाँ राष्ट्रीय संस्कृति में समन्वय प्राप्त करती हैं। समन्वययुक्त जीवन ही राष्ट्र का सुखदायी रूप है।

साहित्य, कला, नृत्य, गीत, आमोद-प्रमोद अनेक रूपों में राष्ट्रीय जन अपने-अपने मानसिक भावों को प्रकट करते हैं।

गाँवों और जंगलों में स्वच्छन्द जन्म लेने वाले लोकगीतों में, तारों के नीचे विकसित लोक-कथाओं में, संस्कृति का अमित भण्डार भरा हुआ है, जहाँ से आनन्द की भरपूर मात्रा प्राप्त हो सकती है। राष्ट्रीय संस्कृति के परिचय-काल में उन सबका स्वागत करने की आवश्यकता है।

पूर्वजों ने चरित्र और धर्म, विज्ञान, साहित्य, कला और संस्कृति के क्षेत्र में जो कुछ भी पराक्रम किया है उस सारे विस्तार को हम गौरव के साथ

धारण करते हैं और उसके तेज को अपने भावी जीवन में साक्षात् देखना चाहते हैं। जहाँ अतीत वर्तमान के लिये भाररूप नहीं है, जहाँ भूत वर्तमान को जकड़ रखना नहीं चाहता वरन् अपने वरदान से पुष्ट करके उसे आगे बढ़ाना चाहता है, उस राष्ट्र का हम स्वागत करते हैं !

अभ्यास के प्रश्न

- १। राष्ट्र किन तत्त्वों से मिलकर बनता है ? भारत का उदाहरण देते हुए बताइए कि ये तत्त्व कौन-कौन से हैं ?
- २। भूमि, जन और संस्कृति के प्रति हमारा क्या कर्तव्य है ?
- ३। राष्ट्र की संस्कृति से आप क्या समझते हैं ? उसका परिचय किन रूपों अथवा क्षेत्रों में मिलता है ?
- ४। निम्नलिखित शब्दों के सहज अर्थ बताइए :—समृद्धि, आद्योपान्त, वसुन्धरा, अभ्युदय, प्रतीक, चीलबटा, अन्तराल, जिज्ञासा, निष्कारण धर्म, संततवाही, कबन्धमात्र, समन्वय, अतोत ।
- ५। निम्नलिखित वाक्यों का सरल अर्थ लिखिए :—

(अ) विज्ञान और उद्यम.....करना है।	(पृ० १८१)
(आ) इतिहास.....करना होता है।	(पृ० १८२-३)
(इ) बिना संस्कृति.....मस्तिष्क है।	(पृ० १८३)
(ई) जीवन के बिटप का पुष्प संस्कृति है।	(पृ० १८३)

बुद्धदेव

मैथिलीशरण गुप्त

कपिलवस्तु के महाराज शुद्धोदन के पुत्र रूप में भगवान् बुद्धदेव का अवतार हुआ था। उनकी जननी मायादेवी उन्हें जन्म दे कर ही मानों कृतकृत्य हो कर मुक्ति पा गई। शुद्धोदन की दूसरी रानी नन्द-जननी महाप्रजावती ने उनका पालन-पोषण किया।

उनका नाम सिद्धार्थ और गौतम भी था। सिद्धि-लाभ करके वे बुद्ध कहलाये। सुगत, तथागत और अमिताभ आदि और भी उनके अनेक नाम हैं।

बाल्यकाल से ही उनमें वीतराग के लक्षण प्रकट होने लगे थे। शिक्षा प्राप्त करने पर उनकी और भी वृद्धि हुई। शुद्धोदन को चिन्ता हुई और उन्हें संसारी बनाने के लिए उन्होंने उनका ब्याह कर देना ही ठीक समझा। खोज और परीक्षा करने पर देवदह की राजकुमारी यशोधरा ही जिसे गोपा भी कहते हैं, उनकी वधू बनने योग्य सिद्ध हुई।

यशोधरा के पिता महाराज दण्डपाणि ने सम्बन्ध स्वीकार करने के पहले वर की विद्या-वृद्धि के साथ उसके बल-वीर्य की भी परीक्षा लेनी चाही। सिद्धार्थ ने शास्त्र-शिक्षा के साथ ही साथ शस्त्र-शिक्षा भी ग्रहण की थी। परन्तु शास्त्र की ओर ही पुत्र का मनोयोग समझ कर पिता को कुछ चिन्ता हुई। तथापि कुमार सब परीक्षाओं में अनायास ही उत्तीर्ण हो गये। “टूटत ही धनु भयेहु विवाह” के अनुसार यशोधरा के साथ उनका विवाह हो गया।

पिता ने उनके लिए ऐसा प्रासाद बनवाया था जिसमें सभी ऋतुओं के योग्य सुख के साधन एकत्र थे। किसी राग-रंग और आमोद-प्रमोद की कमी न थी। परन्तु भगवान् तो इसके लिए अवतीर्ण हुए नहीं थे। पिता का प्रबन्ध था कि जो कुछ स्वस्थ, शोभन और सजीव हो उसी पर उनकी दृष्टि पड़े। परन्तु एक दिन एक रोगी को, दूसरे दिन एक वृद्ध को और

तीसरे दिन एक मृतक को देख कर, संसार की इस गति पर गौतम को बड़ी ग्लानि एवं करुणा आई और उन्होंने इसका उपाय खोजने के लिए एक दिन अपना घर छोड़ दिया। उनके उस प्रयाण को महाभिनिष्क्रमण कहते हैं।

तब तक उनके एक पुत्र भी हो चुका था। उसका नाम था राहुल। अभी उसके जन्म का उत्सव भी पूरा न हुआ था कि कपिलवस्तु में उनके गृह-त्याग का शोक छा गया।

रात को अपने सेवक छन्दक के साथ कन्थक नामक अश्व पर चढ़ कर वे चल दिये।

जिस प्रकार रुग्ण, वृद्ध और मृतक को देख कर वे चिन्तित हुए थे उसी प्रकार एक दिन एक तेजस्वी संन्यासी को देख कर उन्हें सन्तोष भी हुआ था। अपने राज्य की सीमा पर पहुँच कर उन्होंने राजकीय वेश-भूषा छोड़ कर संन्यास धारण कर लिया और रोते हुए छन्दक को कपिलवस्तु लौटा दिया। सब के लिए उनका यही सन्देश था कि 'मैं सिद्धि-लाभ करके लौटूँगा।'

सिद्धार्थ वैशाली और राजगृह में विद्वानों का सत्संग करते हुए गयाजी पहुँचे। राजगृह के राजा बिम्बसार ने उन्हें अपने राज्य का अधिकार तक दे कर रोकना चाहा, परन्तु वे तो स्वयं अपना राज्य छोड़ कर आये थे। हाँ, सिद्धि-लाभ करके बिम्बसार को दर्शन देना उन्होंने स्वीकार कर लिया।

राजगृह से पाँच ब्रह्मचारी भी तप करने के लिए उनके साथ हो लिये थे, जो 'पचभद्रवर्गीय' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

निरंजना नदी के तीर पर गौतम ने तपस्या आरम्भ कर दी। बरसों तक वे कठोर साधन करते रहे परन्तु सिद्धि का समय अभी नहीं आया था।

उनका विगलितवसन शरीर आतप, वर्षा, शीत और क्षुधा के कारण ऐसा अवश और जड़ हो गया कि चलना फिरना तो दूर, उसमें हिलने-डुलने की भी शक्ति न रह गई। विचार करने पर उन्हें यह मार्ग उपयुक्त न जान पड़ा और उन्होंने मिताहार स्वीकार करके योग साधन करना उचित समझा। किन्तु उनके साथी पाँचों भिक्षुओं ने उन्हें तपोभ्रष्ट समझ कर उनका साथ छोड़ दिया।

गौतम ने उनकी निन्दा पर दृक्पात भी नहीं किया। वे निन्दास्तुति

से ऊपर उठ चुके थे। परन्तु निर्बलता के कारण वे भिक्षा करने के लिए भी न जा सकते थे, इधर उनके शरीर पर वस्त्र भी न था। उसकी उन्हें आवश्यकता भी न थी। परन्तु लोक में भिक्षा करने के लिए जाने पर लोक की मर्यादा का विचार वे कैसे छोड़ते ?

किसी प्रकार खिसक कर पास के श्मशान से एक वस्त्र उन्होंने प्राप्त किया और उसे धारण कर लिया।

गाँव की कुछ लड़कियाँ उन्हें कुछ आहार दे जाती थीं। उसी से उनमें चलने-फिरने की शक्ति आ गई। सुजाता नाम की एक स्त्री ने उन्हें बड़ी सुस्वाद खीर भेंट की थी। उसे खा कर, कहते हैं भगवान् बहुत तृप्त हुए थे।

एक दिन निरंजना नदी को पार कर उन्होंने एकान्त में एक अश्वत्थ वृक्ष देखा। वह स्थान उन्हें समाधि के लिए बहुत उपयुक्त जान पड़ा। अन्त में वही वृक्ष बोधि-वृक्ष कहलाया और वहीं समाधि में निर्वाण का तत्त्व उनको दृष्टिगोचर हुआ।

इसके पहले स्वयं मार (कामदेव) ने उन्हें उस मार्ग से विरत करना चाहा। क्योंकि वह विषयों का विरोधी मार्ग था। सुन्दरी अप्सराएँ उनके सामने प्रकट हुईं। परन्तु वे ऐसे ऋषि-मुनि न थे जो डिग जाते।

मार ने लुभाने की ही चेष्टा नहीं की, उन्हें डराया-धमकाया भी। कितनी ही विभीषिकाएँ उनके सामने आईं, परन्तु वे अटल रहे।

स्वयं जीवन्मुक्त हो कर भगवान् ने जीवमात्र के लिए मुक्ति का मार्ग खोल दिया।

कर्मकाण्ड के आडम्बर की अपेक्षा सदाचार को उन्होंने प्रधानता दी और यज्ञों के नाम से होने वाली जीव-हिंसा का घोर विरोध किया।

जो पाँच भिक्षु उनका साथ छोड़ कर चले गये थे उन्हीं को सब से पहले भगवान् के उपदेश सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। संसार भर में जिसकी धूम मच गई, काशी के समीप सारनाथ में ही आरम्भ में, उस धर्मचक्र का प्रवर्तन हुआ। वे भिक्षु उन दिनों वही थे।

रोहिणी नदी के तीर पर कपिलवस्तु में भी यह समाचार कैसे न पहुँचता ?

शुद्धोदन ने बुद्धदेव को बुलाने के लिए दूत भेजे। परन्तु जो जो उन्हें लेने के लिए गए वे सब उनके दर्शन और उपदेश से स्वयं संसार-त्यागी हो कर उनके संघ में दीक्षित हो गये। अन्त में शुद्धोदन ने अपने मन्त्रि-पुत्र को, जो सिद्धार्थ का बाल्यसखा था, उन्हें लेने के लिए भेजा। वह भी भगवान् के संघ में प्रविष्ट हो गया परन्तु शुद्धोदन से प्रतिज्ञा कर आया था, इसलिए भगवान् को उनका स्मरण दिलाना न भूला।

भगवान् कपिलवस्तु पधारे। रात को वे नगर के बाहर उद्यान में रहे। सबरे नियमानुसार भिक्षा के लिए निकले। इस समाचार से वहाँ हलचल मच गई। यशोधरा को बड़ा परिताप हुआ। शुद्धोदन ने खेदपूर्वक उनसे कहा—“क्या यही हमारे कुल की परिपाटी है?” भगवान् ने कहा—“नहीं, यह बुद्ध-कुल की परिपाटी है!”

भगवान् राजप्रासाद में पधारे। सबने उनका उचित स्वागत समादर किया। परन्तु यशोधरा उस समारोह में सम्मिलित न हुई। उससे कहा गया तो उसने यही कहा—‘भगवान् की मुझ पर कृपा होगी तो वे स्वयं ही मेरे समीप पधारेंगे।’ अन्त में भगवान् ही उसके निकट गये और उस समय भी इस महीयसी महिला ने उन्हें राहुल का दान दे कर अपने महत्त्याग का परिचय दिया।

अभ्यास के प्रश्न

- १। बुद्धदेव को किन-किन नामों से पुकारा जाता है? उनकी जोवनी और उपदेशों को सरल भाषा में लिखिए।
- २। निम्नलिखित शब्दों पर टिप्पणियाँ लिखिए :—महाभिनिष्क्रमण, पंचभद्रवर्गीय, धर्मचक्र-प्रवर्तन।
- ३। अधोलिखित शब्दों के अर्थ बताते हुए उनका वाक्यों में प्रयोग कीजिए :—वीतराग, प्रयाण, दृक्पात, मर्यादा, कर्मकाण्ड, परिताप, महीयसी।
- ४। निचे लिखे शब्दों की सन्धियों का विच्छेद करके उनके नाम बताइए :—मनोयोग, महाभिनिष्क्रमण, मिताहार, जीवन्मुक्त, तपोभ्रष्ट।
- ५। निम्नलिखित वाक्य के प्रसंग की चर्चा करते हुए उसका अर्थ लिखिए :—शुद्धोदन ने खेदपूर्वक.....परिपाटी है’। (पृ०....१८८)

स्मृति-तर्पण

(१)

वह चला गया। वह ब्रह्मचर्य का विजय-केतन, धर्म का मूर्तिमान् विग्रह, संयम की धवल पताका, वैराग्य का प्रसन्न वैभव, सत्य का अवतार, अहिंसा का रूप, प्रेम का आकार, कीर्ति का कैलास, भक्ति का उल्लास, हमारे बीच से चला गया। इतिहास ने इतनी क्षीण काया में इतना बड़ा प्राण नहीं देखा था। धरित्री ने इतने अल्प अवकाश में इतना बड़ा प्रकाश नहीं देखा था; मनुष्यता ने इतना बड़ा विजयोल्लास कभी अनुभव नहीं किया था। वह हँसता हुआ आया, रुलाता हुआ चला गया। तपस्या का शुभ्र हिमालय गल गया, सारा संसार उस शीतल वारिधारा से आर्द्र है। संसार के इस कोने से उस कोने तक एक ही मर्मभेदी आवाज आ रही है—वह चला गया, गांधी चला गया !

वह जिधर मुड़ा, जीवन लहरा उठा; वह जिधर झुका, प्रेम बरस पड़ा; वह जिधर चला, जमाना ढरक पड़ा। वह शक्ति का भाण्डार था, क्योंकि वह सच्चे अर्थ में भक्त था। उसने अपने 'राम' को अपना सर्वस्व भेंट कर दिया था, इसीलिए वह सब-कुछ को अपना सका था। भागवत में कहा है कि मनुष्य जितना भगवान् को दे देता है, उतना ही उसका अपना होता है, आईने के सामने जितना मुख बढ़ा दिया जाता है, उतने की ही आभा लौटकर आ जाती है। दाकी का कोई अर्थ नहीं। वह निष्फल होता है। जो जितना देता है, उतने का ही सच्चा अधिकारी होता है।

गांधीजी ने अपना सब कुछ—ज्ञान, कर्म, भक्ति, मन, प्राण, वाणी, विद्या, बुद्धि, विभव, सब कुछ 'राम' को दे दिया था, इसीलिए इनपर उनका अखण्ड अधिकार था। दुनिया हैरान होकर सोचती है कि इतनी शक्ति उन्हें मिली कहाँ से? वह बार-बार धोखा खाकर भी नहीं सीखती। वह मिट्टी के ठीकरों की व्यर्थता बार-बार देखकर भी नहीं समझती। वह बाह्य

आवरणों की नीरसता बार-बार अनुभव करके भी उनसे चिपटती है। हाय, पानी में बसनेवाली मछली को प्यास से छटपटाते देखना कितना करुणाजनक हास्यास्पद व्यापार है ! कबीरदास ने इस अन्धे संसार को इसी प्रकार छटपटाता देख करुणा की हँसी से अपना दुःख प्रकट किया था—‘पानी बिच मीन पियासी, मोहि देखि-देखि आवै हाँसी !’ शक्ति का उत्स बाहर नहीं है, वह भीतर है। कब संसार इस महासत्य को समझेगा ? बुद्ध ने अपने जीवन से इस आर हो सकेत किया, ईसा ने प्राणों की आहुति देकर यही सिद्ध किया, और अब गांधी ने भी चकित संसार को इसी विशाल सत्य की ओर उन्मुख किया है।

मनुष्य की सेवा ? वह मनुष्य का सर्वोत्तम सेवक था।

मनुष्य क्या है ? आहार-निद्रा के साधनों से प्रसन्न होनेवाला, घर-द्वार को जुटाकर खुश रहनेवाला, कौड़ी-कौड़ी जोड़कर माया बटोरनेवाला मनुष्य भी मनुष्य ही है, पर यही सब कुछ नहीं है। मनुष्य पशु का ही विकसित रूप है। पर इसीलिए मनुष्य पशु ही नहीं है। पशुसामान्य धर्म उसमें रह गये हैं। उनकी पूर्ति से वह संतुष्ट भी होता है, पर वही सब कुछ नहीं है। वह पशु से भिन्न है, पशु से उन्नत है। क्योंकि उसमें संयम और तप करने की शक्ति है। इन्द्रिय-परायणता पशुसामान्य धर्म है। जितेन्द्रियता मनुष्य की अपनी विशेषता है। गांधीजी ने मनुष्य को इस स्तर पर ले जाने का प्रयत्न किया था। यही मनुष्य की सेवा है। उसे अन्न मिलना चाहिए, उसे वस्त्र मिलना चाहिए, उसे ज्ञान मिलना चाहिए; ठीक है, पर यहीं तक आकर रुकना मनुष्य की सेवा नहीं है। मनुष्य को संयम मिलना चाहिए, जितेन्द्रियता प्राप्त होनी चाहिए, तपस्या की योग्यता प्राप्त होनी चाहिये। संयम सब का मूल है। दुनिया में भली बातें बतानेवाले लोगों की कमी नहीं है। व्रत की, तप की, शास्त्र की, अध्ययन की, धर्म की, जप की, समाधि की, मोक्ष की चर्चा किसने नहीं सुनी ? कौन-सा धर्म है जिसके शास्त्रों और आचार्यों ने इनकी चर्चा अपने अनुयायियों से नहीं की ? पर सुनता कौन है ! पानी पर की लकीर के समान ये बातें उत्पत्ति के साथ ही विनाश की ओर बढ़ जाती है। कोई सुनता नहीं। क्यों नहीं सुनता ? प्रह्लाद ने ठीक ही कहा था कि जो इन्द्रियों को काबू में नहीं कर सका, जिसे जड़ जगत् के प्रलोभन निरन्तर खींच रहे

हैं, जो दम्भ में ही जीवन बिता देता है वह इन बड़ी बातों की ओर नहीं जाता। जाता वही है जो संयमी होता है, अपने को संभाल सकता है, जो सत्यवादी होता है।

हाय, जो महापुरुष चला गया उसने इस रहस्य को समझा था। प्राण देकर भी उसने इस देश के जनसमुदाय को बताना चाहा था कि बड़ी साधना की पहुँचो शर्त है संयम, आत्म-नियमन। उसने भुजा उठाकर कहा था कि मनुष्य की सेवा का लक्ष्य है मनुष्य को पशुसामान्य धरातल से ऊपर उठाना, इन्द्रियवश्या के पङ्क से उबारना, आहार-निद्रा के साधनों की अपेक्षा बड़ी बात सोचने की आदत डलवाना।

वह मनुष्य की सेवा को उसके सर्वोच्च स्तर पर ले जाना चाहता था। नर की सेवा नारायण की सेवा है। मनुष्य को ताप-तप्त अवस्था से उबारना अखिलात्मा पुरुष को सब से बड़ी आराधना है।

वह इस स्पर्धा और कुटिलता की घोर अन्धरात्रि में चन्द्रमा की भाँति स्निग्ध आलोक-विस्तार कर रहा। उसने जाति-धर्म-निर्विशेष मनुष्य की सेवा का व्रत लिया था, क्योंकि वह अखण्ड सत्य का द्रष्टा था। कबीर की भाँति उसने समझा था कि जो व्यक्ति सरबस को छोड़कर खण्ड का रस चखने जाता है वह तृप्त नहीं होता—‘सरबस छोड़ि खण्ड रस चाखा तृष्णा ताप नसानी।’

जो स्वयं तृप्त नहीं हो सका वह दूसरों का ताप क्या दूर करेगा? गांधी इस कण्टकाकीर्ण भवकानन का पारिजात था, इस स्नेहशून्य मरुकान्तार का मान-सरोवर था, इस ताप-तप्त संसार में बरसनेवाला सजल जलधर था। हाय, हतभाग्य भारतवर्ष, तू आज शोच्य है। तुझे वह रत्न मिला था, जो देवताओं को भी नहीं मिलता। गांधी भारतवर्ष के अनेक युगों के सचित पुण्य का मधुर फल था। आज देश-जननी की गोद सूनी है, आज वह सचमुच दरिद्र है।

पर धन्य है वह देश जिसने गांधी को पैदा किया; धन्य है वह भूमि जिसने गांधी को धारण किया; धन्य है वह जनसमाज जिसके लिए उसने अपने को निःशेष भाव से दे दिया। गांधी का आना मङ्गल का सूचक था, जाना किसी महान् भविष्य का सूचक बने! भारतजननी बन्ध्या नहीं है। गांधी गया नहीं है। मनुष्यता थीकी नहीं है। यद्यपि चित्त आज उन्मथित है, वाणो रुद्धचेष्ट है, हृदय व्याकुल है, परन्तु गांधी का नाम ही आशा का संचार करता

है। निराश होने की कोई बात नहीं है। वह चला गया—उसका केवल बाह्यरूप ही गया है। वह रह गया है—उसका सम्पूर्ण अस्तित्व रह गया है। अन्तर के अन्तर से आवाज आ रही है, वह गया नहीं है, वह अनन्त शक्तियों का ज्योतिर्मय पुरुष हृदय के गम्भीरतम गह्वर में आज भी वर्तमान है। हाँ, वह गया नहीं है। यद्यपि विश्वास है कि वह रह गया है तथापि मन मानता नहीं। कहीं से रुद्ध क्रन्दन बार-बार फट पड़ना चाहता है—वह चला गया ! हाय, वह चला गया !!

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

(२)

सूर्योदय में अभी देर थी, मुझे पुरानी दिल्ली से राजघाट की ओर जाते हुए कुछ लोग दिखाई दिये। ऐसा मालूम होता था कि वे यमुना में स्नान करने के लिए जा रहे हैं। मैं भी उनके पीछे-पीछे हो लिया। बापू की समाधि पर पहुँच कर वे कुछ देर वहाँ बैठे और 'रघुपति राघव राजा राम' का गान करते रहे।

शान्ति के वातावरण में बापू की आत्मा को प्रणाम कर वे आगे यमुना की ओर चल दिये। मेरी आँखें दूर तक इन लोगों को देखती रहीं। मैंने अपने दिल में कहा—आज इन लोगों का स्नान सच्चा स्नान होगा, क्योंकि नदी में नहा कर तो केवल शरीर साफ होता है, किसी महापुरुष की चरणरज तो मानव आत्मा को भी स्वच्छ करती है।

यमुना की ओर जाने वाले ये लोग बराबर 'रघुपति राघव राजा राम' का गान कर रहे थे। मैंने देखा कि उनमें से एक बड़ी संख्या 'सीता राम' के बाद अटक जाती थी, जैसे कि गांधी जी ने कभी भी बाकी की दो पंक्तियों का गान न किया हो। हालाँकि इन दो पंक्तियों में क्या सत्य है वह सिखलाने के लिए उन्होंने अपनी जान भी अर्पण कर दी थी। यह सोच कर कि ये लोग इतने रुढ़िबद्ध हैं कि ईश्वर-अल्लाह को अब तक भी केवल अपने ही चूल्हे का चौकीदार समझे बैठे हैं, मेरे दिल पर गहरी चोट लगी। काश ! वे सत्य का मुक्त आकाश देख सकते जहाँ ईश्वर और अल्लाह में कोई भेद नहीं।

कुछ ऐसे विचारों ने मुझे उदासीनता के अंधकार से घेर लिया। उसे दूर करने के लिए मैं चुपचाप समाधि के एक कोने में बैठ कर बापू की

आत्मा की ज्योति की एक किरण ढूँढ़ने लगा, मैं उनके सिखलाये हुए मत्स्य का ध्यान करते-करते मग्न हो गया।

जब मैंने आँखें खोलیں तो सूर्य उदय हो चुका था। मुझे ऐसा मातूम हुआ कि कोमल किरणें जो मेरे माथे पर पड़ रही थीं, वे वापू के हाथ की कोमल उँगलियाँ थीं जो उन्होंने कभी मेरे सिर पर आशीर्वाद रूप रखी थीं।

मेरे दिल में अब उदासी की वज्राय उमंग थी, आनन्द था, उत्साह था, क्योंकि मैंने सोचा, लोग कितना ही सत्य को भूल जायें— अपने स्वार्थ के लिए या दलबाजी के नाम पर—वह तो अटल और अमर है और अटल और अमर ही रहेगा। यह मेरी खाप-बयाली न थी, आत्मा का स्वाभाविक सत्य में अगाध विश्वास था, और इसका प्रमाण प्रभु ने मुझे प्रत्यक्ष दिया।

समाधि से उठ कर मैं अपने ठिगाने की ओर जाने के लिए तैयार हो रहा था। उसी समय वहाँ एक पठान जो सरहद के पार का बर्शिदा दिखाई पड़ता था, आ निकला। उसने अपने जूते समाधि के बाहर उतारे और फिर थोड़ी खामोशी के बाद हुआ पढ़ने लगा—

‘या अल्लाह, गांधी मलंग की रूह को अमन बरह। वह तेरा सच्चा खादिम था, वह तेरा एक बली था, क्योंकि उसने हम सबको, आदमजात को, सीधा रास्ता दिखलाया। हम लोग तेरे नाम पर आपस में लड़ते-झगड़ते हैं। उसने हम को बतलाया, ईश्वर-अल्लाह एक है और हम सब उसके बच्चे हैं। आपस में भाई-भाई है इसलिए हम सब को एक-दूसरे के साथ मुहब्बत से रहना चाहिए। या अल्लाह हम को तब अक़ल बरह, ताक़त दे कि हम गांधी का सबक कभी मत भूलें: ईश्वर-अल्लाह तेरे नाम।’

यह दृश्य देख कर मैं स्तब्ध रह गया, मेरी आँखों से आँसू बहने लगे। सिर ऊँचा करके मैं पठान की तरफ देखने लगा। उसकी आँखों में भी आँसू थे। मैंने अपने मन से पूछा, यह जल कहाँ से आया? यह जल तो यमुना का नहीं। मेरा मन कह उठा, यह तो किसी और ही नदी का जल है जिसका नाम प्रेम-नदी है, जिसके किनारे एक पवित्र प्रयाग है जहाँ हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, यहूदी, पारसी सब मिल कर रहते हैं।

मीरा के एक भजन की दो पंक्तियाँ मेरे मन में गूँजने लगीं—

मीरा के प्रभु गहिर गँभीरा, हृदय धरो जो धीरा,
आधी रात प्रभु दर्शन दीजो, प्रेम नदी के तीरा !

मेरा मन कह उठा—उस पठान की आँखों में और तुम्हारी आँखों में
जो जल भर आया था वह इसी प्रेम नदी का जल था, समझे ?

सचमुच उसी समय पठान की दुआ के शब्द मेरे मस्तिष्क के द्वार पर
दस्तक देने लगे और मैं नतमस्तक होकर 'गांधी मलंग' के ध्यान में खो गया।

—गुरुदयाल मल्लिक

अभ्यास के प्रश्न

(१)

१। महात्मा गांधी अपने किन गुणों के कारण महान् थे ?

२। निम्नलिखित वाक्यों का आशय स्पष्ट कीजिए :—

(क) वह हँसता हुआ आया, रुलाता हुआ चला गया।

(ख) मनुष्य पशु का ही विकसित रूप है।

(ग) गांधी भारतवर्ष के अनेक युगों के संचित पुण्य का मधुर फल था।

(घ) गांधी का आना मंगल का सूचक था, जाना किसी महान्
भविष्य का सूचक बने !

(ङ) जो जितना देना है, उतने का ही सच्चा अधिकारी होता है।

३। निम्नलिखित वाक्यों के अंतर्निहित भाव का प्रसार कीजिए :—

(क) वह ब्रह्मचर्य.....चला गया। (पृ० १८९)

(ख) वह इस स्पृद्धा.....करता रहा। (पृ० १९१)

(ग) गांधी इस कंटकाकीर्ण.....जलधर था। (पृ० १९१)

(२)

१। इस लेख में लेखक ने कौन-सा सन्देश दिया है ?

२। बापू की समाधि के समीप लेखक के मन में क्या-क्या भावनाएँ
जागीं ? उसकी उदासी किसलिए उमंग में बदल गई ?

३। 'प्रेमनदी के जल' से लेखक का क्या तात्पर्य है ?

४। लेखक की भाषा और शैली पर प्रकाश डालिए।

टिप्पणियाँ

जवाहरलाल नेहरू (१८८६ ई०—): भारतमाता की जय
पंडित नेहरू की प्रमुख कृतियाँ (अनूदित) : पिता के पत्र पुत्री के नाम,
मेरी कहानी, विश्व इतिहास की झलक और भारत की खोज, आदि।
कौमीनारा — राष्ट्रीय जयधोष। खिन्न — चिन्तित, उदास।
प्रोत्साहन—अधिक उत्साह बढ़ाना। उच्च—आपत्ति, विरोध।

श्रीप्रकाश (१८९० ई०—): नारंगी का छिलका
प्रतिबन्ध—रूकावट, प्रबन्ध, उपाय। आचरण—व्यवहार, चालचलन।
तात्कालिक—उसी समय का। सार्वजनिक—आम (सर्वसाधारण की)।
अविवेक—अज्ञान। अनुपयुक्त—अनुचित, गलत। क्षति—हानि, नुकसान।
सुव्यवस्थित—सही ढंग से। अस्त-व्यस्त—उलटा-पुलटा।

स्व० महावीरप्रसाद द्विवेदी (१८६४—१९३८ ई०):

सर विलियम जोन्स ने कैसे संस्कृत सीखी

द्विवेदीजी की प्रमुख कृतियाँ : साहित्य सीकर, कालिदास की
निरंकुशता, रघुवंश और कुमारसम्भव आदि।

यथेष्ट—पर्याप्त। पौर्वात्य—पूर्व की ओर की। अश्रुतपूर्व—जो
पहले नहीं सुना। परिताप—दुःख। तत्त्वज्ञानी—ब्रह्मज्ञानी।
कालातिपात—समय बिताना। मुक्तरंर—नियुक्त। तलबों की आग
मस्तक तक पहुँचना—अत्यधिक क्रोध। खारिज—रद्द, निकाल देना।
अंगीकार—स्वीकार। वृष-शूकर—बैल और सूअर। अध्येता—पढ़नेवाला।

श्रीराम शर्मा (१८९५ ई०—): बाघ से भिड़ंत

शर्माजी की प्रमुख कृतियाँ : शिकार, बोलती प्रतिमा और प्राणों का सौदा।
अन्तर्वेदना—मन का दुःख। द्योतक—बताने वाली। हृद्गतंत्री—हृदय
रूपो वीणा। मुक्त याचना—बिना बोले माँगना। परामर्श—सलाह।
कूटनीतिज्ञ—राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहार की नीति या चाल के ज्ञाता।

अन्नपूर्णानन्द (१८९५ ई०—): अकबरी लोटा

अन्नपूर्णानन्दजी की प्रमुख कृतियाँ : मेरी हजामत, महाकवि चच्चा आदि।

बुल्ला—बुलबुल। बिलाना—अदृश्य होना। फ़िक़रा—वाक्य।
ख़ुल्लूख—ख़ाली, रिक्त। उधेड़-बुन—बिता। खुराफ़ाती—उपद्रवी।
ईजाद—आविष्कार। काटो तो खून नहीं—भयभीत हो जाना।
सांगोपांग—सब अंगों और उपांगो सहित।

विनावा (१८९४ ई०—)। श्रनदेव की उपासना

विनोबाजी की प्रमुख कृतियाँ : विनावा के विचार, ईषावास्य वृत्ति,
गीता प्रवचन तथा अन्य सकलन।

अपरिग्रह—आवश्यक धन से अधिक का त्याग। दंश—चुभन।
अदावत—भगड़ा। अनुत्पादक—पैदा न करने वाला। स्पर्धा—होड़।
प्रत्यक्ष—आँखों के सामने।

स्व० बालकृष्ण भट्ट (१८४८—१९१४ ई०) : कल्पना-शक्ति

प्रतिभा—बुद्धि। उद्गार—हृदय के भाव। प्राक्तन—भूतपूर्व।
ईश्वरप्रदत्त—ईश्वर द्वारा दी गई। आकल्पान्त—प्रलय। फ़रागत—
निश्चित। यावत्-मिथ्या—पूर्णरूपेण असत्य। दरोह—असत्य। क़िबले-
गाह—बुजुर्ग। हेय—छोड़ने योग्य। निष्कर्ष—परिणाम। कल्पना-जन्य—
कल्पना से उत्पन्न। नश्वर—नष्ट होने वाला। निर्वाण—मोक्ष। गारत—नष्ट।

प्रेमचन्द (१८८०—१९३६ ई०) : दो बैलों की कथा

प्रेमचन्दजी की प्रमुख कृतियाँ : रंगभूमि, सेवासदन, निर्मला, गोदान
और मानसरोवर (कहानी-संग्रह आठ भाग) आदि।

निरापद—सुरक्षित। राट्टिष्णुता—सहनशीलता। कुलेल करना—
प्रसन्न होकर उछल-कूद मचाना। विषाद—दुःख। पराकाष्ठा—अंतिम सीमा।
गोई—बैलों की जोड़ी। दाँतों पसीना आना—अधिक परिश्रम पड़ना।
बेगाने—ग़ैर, पराये। आक्षेप—दोषारोपण, ताना।

स्व० ब्रजमोहन वर्मा : जीता जागता तिलिस्म

अन्वेषण—खोज। अनुसन्धान—खोज। विकीरण—फ़ैला हुआ।
आविर्भाव—प्रकट होना। प्रादुर्भाव—उत्पत्ति। उत्तेजक—उभाड़नेवाला,
प्रेरक। प्रतिक्रिया—परिणाम स्वरूप दूसरी ओर होनेवाली क्रिया।
स्पन्दन—धड़कन। अणुवीक्षण यंत्र—सूक्ष्मतम वस्तुओं को देखने का यन्त्र।
संवेदनशील—ताप-शीत आदि का अनुभव करनेवाला। संकुचन—सिकुड़ना।

भदन्त आनन्द कौसल्यायन (१९०५ ई०—): माँ का हृदय

आनन्दजी की प्रमुख कृतियाँ: जो न भूल सका, जो लिखना पड़ा, रेल का टिकट, आज का जापान।

मध्याह्न—दोपहर। वेतहाशा—घबड़ाकर तेजी से। विवशता—मजबूरी। प्रतिशोध—वदला। खाना हराय होना—कोई काम करना असंभव हो जाना। कुछ षड़ियों के मेहमान—मृत्यु के निकट। किर्कत्तव्यविमूढ़—निर्णय न कर पाना। प्रस्ताव—सुझाव। बलवा—दंगा। प्रवृत्ति—मन का झुकाव। मानस पटल—मन का पर्दा।

स० ही० वात्स्यायन (१९०५ ई०—): महावीरप्रसाद द्विवेदी

वात्स्यायनजी की प्रमुख कृतियाँ: विषयगा, शेखर एक जीवनी (दो भाग), नदी के द्वीप, अरे यात्रावर रहेगा याद, आदि।

साम्राज्यवाद—राजशाही का बनाये रखने और बढ़ाते चलने का सिद्धांत। राष्ट्रीयवाद—निजदेशीयता की राजनीतिक पुष्टि करने वाला सिद्धांत। कारगर—लाभदायक। परम्परा—प्रथा। संयम—उचित बंधन। विवेचन—तर्क-वितर्क। मकसद—उद्देश्य। आत्मज—बेटा। उजरत—मजदूरी। वसीयत—उत्तराधिकार। मेहमाननवाजी—आतिथ्य। तरतीब—क्रम, सिलसिला।

डॉ० रामकुमार वर्मा (१९०५ ई०—): तैमूर की हार

वर्माजी की प्रमुख कृतियाँ: चित्ररेखा, हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, कबीर, पृथ्वीराज की आँखें, एकांगि संग्रह, कविता संग्रह, आदि

तलघर—जमीन के नीचे की कोठरी। स्तब्ध—सन्न। मकसद—उद्देश्य। नोश फरमाना—खाना-पाना। लज्जीज—सुस्वादु। फजल—कृपा। रख करना—मुँह फेरना। अंगाम देना—पूरा करना। जिहाद—धार्मिक युद्ध। अदना—मामूली। बुलन्द इकबाल—श्रेष्ठ प्रतापी। स्वास्तगार—चाहनेवाला, प्रार्थी। अता फरमाना—देना। हुकमउदूली—आज्ञा का उल्लंघन। तज्जीज—निर्णय। मरतबा—पद। फिजा—शोभा, वातावरण। नाचीज—अकिंचन। वाकिफ—परिचित। फख्र—अभिमान। खुदा हाफिज—ईश्वर रक्षा करे।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी: वसन्त आ गया है

द्विवेदीजी की प्रमुख कृतियाँ: हिन्दी साहित्य की भूमिका, कबीर,

अशोक के फूल, बाणभट्ट की आत्मकथा, प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, हिन्दी साहित्य आदि ।

किसलयिकाओं—नयी निकली कोमल पत्तियाँ । मस भीगना—मूँछें निकलना । वृक्षावलि—पेड़ों की पंक्ति । मसृण—चिकना । सूच्यग्र—सुई की नोक । विडम्बना—उपहास, विरोधाभास । अग्रसर—आगे बढ़ना । कर्णिकार—कनक-चम्पा । मेदुर—स्निग्ध । नियति—प्रकृति ।

रामनाथ 'सुमन' : नागरिक ज्ञान और कर्तव्य

'सुमन'जी की प्रमुख कृतियाँ : भाई के पत्र, वेदी के फूल, घर की रानी, कवि प्रसाद की काव्य-साधना, गांधीवाणी, आदि ।

प्राण-भावना—मूल आधार । दीक्षित—गुरु से मंत्र लेना । सम्बद्ध—जुड़ा हुआ । परिष्कृत—शुद्ध, सुधारा हुआ । समन्वय—मिलाप । कर्तव्योन्मुख—कर्तव्य की ओर अग्रसर ।

काका कालेलकर (१८८५ ई०—): गंगा मैया

काका कालेलकर की प्रमुख कृतियाँ : जीवन साहित्य, हमारे पड़ोसी, हिमालय यात्रा ।

वज्र—बहुत कड़ा । निःस्पृहता—निर्लोभता । तत्त्वज्ञान—आत्मज्ञान । मातृवत्सलता—माँ का प्रेम । शान-शीकृत—तड़क-भड़क । वातावरण—आबहवा । शैत्य—शीतलता । पावनत्व—पवित्रता । क्रीड़ासक्त—खेल में मग्न । मुग्धा—किशोरी नायिका । दंष्ट्र—दाँत । विहार—क्रीड़ा । माहात्म्य—महिमा । शुक्ल-कृष्ण—सफेद-काला । सरित्पति—समुद्र ।

सम्पूर्णानन्द (१८९१ ई०—): समाज और धर्म

सम्पूर्णानन्दजी की प्रमुख कृतियाँ : साम्यवाद, अन्तर्ाष्ट्रीय विधान, चिद्विलास, गणेश, पृथ्वी से सप्तर्षिलोक, आदि ।

समृद्ध—सम्पन्न । गौणातिगौण—तुच्छ से तुच्छ । गूलर का फूल—असंभव । युयुत्सु—युद्ध करने की इच्छा रखनेवाला । ब्रह्मविवित्सु—ब्रह्म को जानने की इच्छा रखनेवाला । संव्यूहन—संगठन । प्रतिस्पर्धा—होड़ । मुमुक्षा—मुक्ति की कामना । उद्वुद्ध—विकसित । संव्यूह—संगठित । शोषण—लोगों के परिश्रम से अधिक लाभ कमाना । सहिष्णुता—सहनशीलता । श्रेयस्कर—बेहतर । वैध—कानून के अनुसार ठीक । विनियोग—प्रयोग । प्रवंचन—छल ।

स्व० जयशंकर 'प्रसाद' (१८८९—१९३७ ई०): गूदड़ साँई

प्रसादजी की प्रमुख कृतियाँ: कामायनी, आँसू, चन्द्रगुप्त, ध्रुव-स्वामिनी, जनमेजय का नागयज्ञ, एक घूँट, कंकाल, तितली, इरावती, काव्य कला तथा अन्य निवध, आदि।

आदान-प्रदान—लेना-देना। मनोविनोद—हँसी-खुशी। अक्षयनृप्ति—पूर्ण संतोष।

स्व० रामचन्द्र शुक्ल (१८८४—१९४१ ई०): तुलसी का भक्ति-मार्ग

शुक्लजी की प्रमुख कृतियाँ: सूरदास, तुलसीदास, जायसी ग्रंथावली, (संपादित), चिंतामणि, हिन्दी साहित्य का इतिहास।

परिपाक—पूर्णता। अवगाहन—पैठ, मन्थन। अध्यवसाय—लगातार उद्योग। अभिव्यक्ति—प्रकाशन। समन्वित—मिला या लगा हुआ। सान्निध्य—समीपता।

महादेवी वर्मा (१९०७ ई०—): दो पर्वत-पुत्र

महादेवीजी की प्रमुख कृतियाँ: नीरजा, नीहार, सांध्यगीत, दीपशिखा, यामा, अतीत के चलचित्र, स्मृति की रेखाएँ, शृंखला की कड़ियाँ।

मापदण्ड—पैमाना। विरोधाभास—दो बातों का परस्पर विरोध। अयाचित—बिना माँगे। हरितदल—हरे पत्ते। प्रसाधित—सजी-सजाई। कटुतिक्त—कड़वे-तीखे। अनुपान—वह वस्तु जो औषध के साथ खाई जाय। अपभ्रंश—बिगाड़। निर्यस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते—वनस्पति-हीन प्रदेश में अंडी के पौधों को ही वृक्ष मान लेते हैं। कर्तव्यच्युत—फर्ज पूरा न करना। सौहार्द—मित्रता। अभिभावक—अभिरक्षक। अनुष्ठान—कार्यारम्भ।

रतनलाल वंसल: अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी

दामन चाक चाक करना—ताने बान को खंडित करके नष्ट करना। दहशत—भय। मजलूम—पीड़ित। साजिश—पड़यन्त्र। मुहज्जब—सुसभ्य। बेजाब्तगी—नियम के विरुद्ध काम करना।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल (१९०४ ई०—): राष्ट्र का स्वरूप

वासुदेवशरणजी की प्रमुख कृतियाँ: पृथिवीपुत्र, माताभूमि, हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन आदि।

भौतिक—पंच-भूतों से बना हुआ। पार्थिव—पृथ्वी सम्बन्धी।
आद्योपान्त—आदि से अंत तक। प्रतीक—चिह्न, लक्षण। जनपद—बस्ती।
प्रांगण—आँगन। कबध—बिना सिर का धड़। विटप—वृक्ष। अमित—अपार।

मैथिलीशरण गुप्त (१८८६ ई०—): बुद्धदेव

गुप्तजी की प्रमुख कृतियाँ : भारत-भारती, पंचवटी, यशोधरा, साकेत,
जयद्रथ वध आदि।

कृतकृत्य—धन्य। अनायास—बिना परिश्रम। मिताहार—नियत
भोजन। अश्वत्थ—पीपल। निर्वाण—मोक्ष। कर्मकाण्ड—धार्मिक कृत्य।
प्रवर्तन—प्रचलित करना। महीयसी—गौरवशालिनी।

स्मृति-तर्पण (१)

विजयकेतन—विजय ध्वजा। विग्रह—शरीर। वारिधारा—जल
की धारा। उत्स—स्रोत। इन्द्रियपरायणता—इन्द्रियों के वश में होना।
अखिलात्मा—ईश्वर।

स्मृति-तर्पण (२)

मल्लिकजी की प्रमुख कृति : दिल की बात।

खाम-ख्याली—भ्रम। मलंग—एक प्रकार के मुसलमान साधु।
रूह—आत्मा। खादिम—सेवक। बल्ली (बली)—साधु, फकीर।

सीताराम चतुर्वेदी (१९०२ ई०—): मेरे मालवीयजी

चतुर्वेदीजी की प्रमुख कृतियाँ : मालवीय जी की जीवनी, अरस्तू
का काव्यशास्त्र, समीक्षाशास्त्र; अनेक नाटक। संपादित ग्रंथ : कालिदास
ग्रंथावली। इनके अतिरिक्त शिक्षा-शास्त्र पर अनेक ग्रंथ रचे हैं।

आर्त-पीड़ित—दुखी। अणु-परमाणु—कण-कण। पुण्यश्लोक—शुद्धचरित्र,
पवित्र आचरण वाला। ब्रह्मवर्चस—ब्रह्मतेजयुक्त। मधुस्राविणी—
मधु प्रवाहित करने वाली। प्रवृत्ति—इच्छा। सौहार्द—मित्रता।
महत्वाकांक्षा—उच्च आकांक्षा। सम्पर्क—लगाव। वात्सल्य-भाजन—
स्नेहपात्र। व्यासपीठ—गुरु का आसन। गंहार—मार डालना। निर्वीर्यता—
कायरता, अशक्तता। उपसंहार—समाप्ति। लोक-विश्रुत—संसार में
प्रसिद्ध। अध्यवसाय—लगातार उद्योग। सरणि—तालिका। अनुलित—
अपार। तन्मयता—दत्त चित्तता।

